डॉ. अर्जुनदास केसरी

3187

आदिवासी जीवन

उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी
लखनऊ

वर्ग सं० ....

लेखकांक ....

पुस्तक सं० .... 3187 ....

आदिवासी जीवन

डॉक्टर अर्जुनदास केसरी

आदिवासी जीवन

प्रथम संस्करण-नवम्बर' 83
अर्जुनदास केसरी
आवरण : ब्रह्मदेव 'मधुर'

कापी राइट C
डॉ० अर्जुनदास केसरी

प्रकाशक—

लोकरुचि प्रकाशन,
रावर्टसगंज, (231216) मिरजापुर (उ० प्र०)
मूल्य पैंतीस रुपये

मुद्रक—

सेवाश्रम प्रिंटिंग प्रेस
J 1/63 शेषमन बाजार,
वाराणसी

ADIVASI JEEWAN

by

Dr. Arjundas kesari

LOKRUCHI PRAKASHAN
Robertsganj, MIRZAPUR (U. P.)
Price : Rs. 35·00

पुस्तक के बारे में

आदिवासी संस्कृति एक प्राचीन मानवतावादी मौलिक संस्कृति है। विश्व के अधिकतर देशों में आदिवासी निवास करते हैं। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व मानव विज्ञान के अध्ययन की शुरुआत के साथ आदिवासी जीवन के अध्ययन की शुरुआत भी योरोपीय देशों में हुई जिसका आधार एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और द्वीप समूहों के आदिवासी या कबीले थे, बाद में अंग्रेज सैनिकों और प्रशासकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। भारत के स्वतंत्र होने के साथ जहां एक ओर भारत के चिंतकों, चिंतक राजनीतिज्ञों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ वहीं नृतत्वशास्त्रियों का ध्यान भी उनकी समस्याओं के अध्ययन और उनके समाधान की ओर आकर्षित हुआ जिसके परिणामस्वरूप देश के कुछ विश्वविद्यालयों में मानव विज्ञान के पाठ्यक्रम में जनजातीय अध्ययन को भी स्थान मिला किंतु अब इनके पृथक अध्ययन की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी है।

औद्योगिक विस्तार, वैज्ञानिक प्रगति एवं तकनीकी उन्नति के साथ आदिवासी संस्कृति बड़ी तेजी से मिट रही है, इसलिए भी इनसे सम्बन्धित तमाम जानकारियों को यथाशीघ्र समेट लेने की आवश्यकता है। आदिवासियों पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनके अध्ययन से सिद्धान्त पक्ष की जानकारी तो अवश्य हो जाती है, किन्तु व्यावहारिक जानकारियों की उनमें कमी दीखती है।

आवश्यकता इस बात की है कि उनके जीवन को उनके निकट जाकर देखा समझा जाय। आदिवासी संस्कृति को जानना अपने अतीत को जानना है। यह कार्य जितना श्रमसाध्य है, उतना ही व्यय साध्य। डाक्टर केसरी का यह प्रयास इस दिशा में एक कारगर उपलब्धि है। मेरा विश्वास है कि इससे पाठकों का ज्ञानबर्द्धन होगा और आदिवासी समाज भी प्रेरणा ग्रहण करेगा।

पोतुबिल गुणरतन

मूलगंध कुटी विहाराधिपति

सारनाथ, वाराणसी

लेखक का निवेदन

आदिवासी-संस्कृति औद्योगिक संस्कृति के विकास के साथ-साथ बड़ी तेजी से मिटती-सिमटती जा रही है, इस प्रवृत्ति को अब रोका भी नहीं जा सकता और न रोकने की आवश्यकता है। जब सारा समाज तेजी से प्रगति की ओर अग्रसर है तो आदिवासी ही पीछे क्यों रहें? अशिक्षा, अंध विश्वास, हीन भावना और निर्धनता के कारण शताब्दियों-सहस्त्राब्दियों से आदिवासी, समाज-द्वारा शोषित, पीड़ित और उपेक्षित रहा है। पिछले कुछ दशकों में उसे विकास का उन्मुक्त वातावरण मिला है, तथापि अन्यान्य कारणों से उसके प्रगति की गति अभी भी धीमी है। अपने देश के अतिरिक्त विदेशों में भी आदिवासियों के विकास के लिए अनेक योजनाएं बनायी जा रही हैं, उन पर पर्याप्त धन खर्च किया जा रहा है, किन्तु वे पूर्णतया सार्थक, प्रभावशाली और कारगर सिद्ध नहीं हो पा रही हैं, इसलिए कि अभी भी हमारा उनकी प्रवृत्तियों, मूल समस्याओं, सांस्कृतिक, सामाजिक और कलात्मक गतिविधियों, उनके परंपरागत जीवनयापन के तौर-तरीकों से परिचय, तालमेल या सामञ्जस्य नहीं हो पाया है। उसके जहां अनेक कारण हैं, वहीं एक कारण है आदिवासियों के बारे में उपयोगी एवं सार्थक साहित्य का अभाव। पिछले कुछ वर्षों में इस कमी की पूर्ति का प्रयास किया गया है। तब भी आदिवासियों के बीच वर्षों व्यतीय करने के अपने लोमहर्षक अनुभवों को इन पंक्तियों के लेखक ने पुस्तकाकार करने का एक छोटा प्रयास किया है। विश्वास है, इससे आदिवासियों की समस्याओं को समझने और उनका समाधान ढूंढ़ निकालने की दिशा में समाजसेवियों को सहायता मिलेगी और आदिवासियों को भी दकियानूसी, रूढ़िवादी विचारों से मुक्ति मिल सकेगी। यदि ऐसा हुआ तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

आदिवासियों के बारे में लिखने-पढ़ने की प्रेरणा मुझे जिनसे मिली हैं उनमें मुख्य हैं, सर्वश्री अमृतलाल नागर, विद्या निवास मिश्र मोहनलाल गुप्त, ठाकुर प्रसाद सिंह, श्री भवानी शंकर शुक्ल (आई० ए० एस०), अमीर हसन (आई० ए० एस०), डाँ० श्याम तिवारी, देवकुमार मिश्र, अजय शेखर, राजेश शर्मा, डाँ० रामहित ओझा, डाँ० कृष्ण मोहन सक्सेना, नरेन्द्र नीरव, मुनीर बख्श आलम, हंसनाथ पाण्डेय 'हंस' तथा ये सभी मेरे लिए आदर के पात्र हैं। आदिवासियों के बीच भ्रमण करने वाले मित्रों में सर्वश्री एस० अतिबल, शे० जैनुल आब्दीन, सुधेन्दु पटेल मुख्य हैं, अतः इस पुस्तक को इस रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय उन्हीं को है। मैं उनके प्रति आभारी हूँ। यह पुस्तक आदिवासियों के स्नेह, सद्भाव और आत्मीयता का परिणाम है, अतः मैं उन्हें इस पुस्तक के सिवा और अर्पित ही क्या कर सकता हूँ?

सचिव,

लोकवार्ता शोध संस्थान **अर्जुनदास केसरी**

राबर्टसगंज, मिर्जापुर

अनुक्रम

पहला अध्याय

आदिवासी जीवन के विविध आयाम : कुछ झलकियां (1–18)

प्राकृतिक जीवन, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन (1), धार्मिक जीवन, राजनीतिक जीवन, सौंदर्यानुभूति परक और कलात्मक जीवन (2), आदिवासी जीवन परंपराएं और कुल-रीतियां (3), आदिवासी जीवन, उनके संस्कार गीत (6), आदिवासी बालकों का जीवन (10), आदिवासी महिलाओं का जीवन (13), आदिवासी युवजन और उनके जीवनादर्श (15), घोटुंल गृह : एक पाठशाला (16)

दूसरा अध्याय

आर्थिक जीवन : कृषक और श्रमिक वर्ग की जनजातियां (19-47)

उर्वरा धरती वंचित आदिवासी (19), विस्थापित आदिवासी और बंधुआ जीवन (21), प्रमुख आदिवासी जातियां : संक्षिप्त परिचय, खरवार (23), गोंड (26), मुसहर (30), डरॉव (32), बिन (34), बियार (35), भुइयां (38), मुण्डा (40), परहिया (43), श्रमजीवी आदिवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार के उपाय (43),

तीसरा अध्याय

धार्मिक जीवन : धर्म-कर्म, पूजा-पाठ एवं पुजारी वर्ग की जनजातियां (48)–59)

आदिवासियों के धर्म-देवता (48), आदिवासियों में दुर्गापूजन (51), पुजारी वर्ग की जनजातियां-चेरो (53), पठारी (55), बैगा (57),

चौथा अध्याय

आदिवासियों का सांस्कृतिक जीवन (60–79)

आदिवासी मेले (60), अगोरी का आदिवासी किला (63), विंढमगंज का मेला (65), आदिवासियों में टोना-टोटका (68), जनजातियों में लोकतंत्र : समस्याएं और समाधान (76),

पांचवां अध्याय

कलात्मक जीवन : नृत्य, संगीत, शिकार तथा अन्य कलाएं और कलाकार वर्ग की जनजातियां 80–116)

करमा (80), डफला, सैलामृत्य, एवं मोर बाजा (82), संगीत नृत्य की विविधताएं (84), नृत्य-गीत-प्रकार (85), साक्षात्कार एक मील आदिवासी से (89), शिकारी जनजातियां-कोल (92), कोरवा (96), घसिया (98), पनिका (100), अगरिया (103), धरकार (105), धांगर (107), बाँदी (109), बैसवार (111), भुरतिया (114),

छठवां अध्याय

तराई क्षेत्र की प्रमुख जनजातियाँ : संक्षिप्त परिचय (116–128)

भोटिया (116), बुक्सा (118), राजी (120), थारू (122), जौनसारी (124), आदिवासियों के लिए शिक्षा (126)।

भारत की कुल जनजातियों की जनसंख्या

वर्ष	जनसंख्या	प्रतिशत
1931	2,20,00,000	
1941	आंकड़ा अविश्वसनीय	
1951	2,25,11,854	6.25
1961	2,98,79,249	6.87
1971	3,80,15,162	6.94

भारत में कुल 212 प्रकार की जनजातियां थीं (आदिवासी जातियां) बाद में तरमीन के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों के हिस्सों में जनजातीय समुदायों की कुल संख्या 550 हो गयी ।

1971 की जनगणनानुसार विभिन्न राज्यों में आदिवासियों की जनसंख्या

क्षेत्र	पूरी जनसंख्या	आदिवासी जनसंख्या
भारत	54,79,49,809	3,80,15,162
	राज्यों में	
असम	....	16,06,648
आन्ध्र प्रदेश	4,35,02,708	16,57,657
उड़ीसा	2,19,44,615	50,71,937
उत्तर प्रदेश	8,83,41,144	1,98,565
केरल	2,13,47,375	2,69,356
गुजरात	2,66,97,475	37,34,422
जम्बू कश्मीर	46,16,632	....
तमिलनाडु	4,11, 19,168	3,11,575
त्रिपुरा	15,56,342	4,50,544
नागालैण्ड	5,16,449	4,57,602

पंजाब	1,35,51,060	... .
पश्चिम बंगाल	4,43,12,011	25,32,696
बिहार	5,63,53,369	49,32,767
मणिपुर	10,72,753	3,34,466
मध्यप्रदेश	4,16,54,119	83,87,403
महाराष्ट्र	5,04,12,232	29,54,249
मेघालय	10,11,699	8,14,230
कर्नाटक	2,92,99,014	2,31,268
राजस्थान	2,57,65,806	31,25,506
हरियाणा	1,00,36,808	... ...
हिमाचल प्रदेश	34,60,434	1,41,610
	केन्द्रशासित प्रदेश	
अन्डमान निकोबार द्वीप समूह	1,15,133	18,102
अरुणाचल प्रदेश	5,67,511	3,69,408
गोवा दामन दीव	8,57,771	7.654
चण्डीगढ़	2,57,251	... ...
दादर, नगर हवेली	74,170	64,445
दिल्ली	40,65,668	....
पाण्डिचेरी	4,91,707	... .
मिजोरम	... ...	3,13,299
लक्षद्वीप समूह	31,810	29,540
भारत की जनसंख्या में जनजातियों का प्रतिशत		6,94

•

उत्तर प्रदेश के आदिवासी तथा उनका विकास

उत्तर प्रदेश की जनजातियां तीन भौगोलिक क्षेत्रों में निवास करती हैं। पहाड़ी क्षेत्र में भोटिया, जौनसारी तथा राजी और तराई क्षेत्र में थारू और बुक्सा जनजातियां निवास करती हैं। यह पाँचों जनजातियां अनुसूचित जनजाति की सूची में 1967 से शामिल हैं और उनकी कुल आबादी 2 लाख है। शेष जनजातियाँ उत्तर प्रदेश के दक्षिणी पठारी इलाके में पायी जाती हैं उनके नाम तथा आबादी निम्न प्रकार हैं:—

जनजातियों के नाम	आबादी	जनपद के नाम
1. गोण्ड (मझवार)	45,611	मिर्जापुर
2. खरवार	35,965	मिर्जापुर, वाराणसी
3. बैगा (चेरु)	6,415	मिर्जापुर, वाराणसी
4. पनिका	8,941	मिर्जापुर
5. परहिया	2,117	मिर्जापुर
6. भुइयाँ	6,011	,,
7. धसिया	2,193	,,
8. ओराँव (धांगर)	24,072	,,
9. अगरिया	12,555	,,
10. कोरवा	63,812	,,
11. कोल	1,35,617	मिर्जापुर, इलाहाबाद, बादा तथा वाराणसी
12. सहारिया	12,483	ललितपुर, झाँसी
13. पठारी	1,412	मिर्जापुर

उपर्युक्त जनसंख्या 1971 की जनगणना के अनुसार है। इसमें कोरवा जनजाति की जनसंख्या 63,000 के ऊपर दिखायी गयी है जो कि बिलकुल गलत है क्योंकि इनकी जनसंख्या 1,000 से अधिक नहीं है।

●

प्रथम अध्याय

आदिवासी जीवन के विविध आयाम : कुछ झलकियाँ

वास्तव में जीवन कुछ नहीं, एक भ्रम, एक भटकाव है। सभी जीते, सभी भरमते-भटकते हैं। थोड़े ही से लोग जीते हैं, जो जीने की कला जानते हैं। जीने की कला वे जानते हैं जो स्वार्थ नहीं, परमार्थ जीते हैं, देश, काल और समाज के लिए जीते हैं, लेकिन कुछ ऐसे लोग भी हैं जो केवल समय काटने के लिए जीते हैं, जीना है, इसलिए जीते हैं। इसीलिए हमारे ऋषियों-महर्षियों ने प्राकृतिक जीवन को ही सर्वोत्तम माना है।

प्राकृतिक-जीवन

प्राकृतिक जीवन को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक तत्व हैं—वन, पर्वत, वृक्ष, नदियाँ, वन्य-पशु-पक्षी तथा पुष्प आदि। आदिवासियों का इनसे निकट का सम्बन्ध है। ये ही उनके जीवन-तत्व हैं। इनसे पृथक उनका कोई अस्तित्व नहीं हैं। इनको ही वे जीते और भोगते हैं।

सामाजिक जीवन

वन का जीव तो साधु-सन्यासी, परिव्राजक होता है जिसका समाज शास्त्र अध्ययन नहीं करता लेकिन वह समाज का एक उपयोगी प्राणी होता है। समाज से पृथक रहकर वह एक ऐसे समाज की रचना करता है जो सर्वथा निर्पेक्ष होता है। सामाजिक परिवर्तनों के साथ आदिवासी समाज भी बदला है। वह सामाजिक रूढियों, अन्ध विश्वासों से ऊपर उठा है, उठ रहा है। उसका पारिवारिक जीवन पहले की अपेक्षा काफी सुखी हुआ है, हो रहा है। मादक द्रव्य-सेवन, छुआछूत की भावनाएं उसके बीच से क्रमशः समाप्त हो रही हैं। सामाजिक सांस्कृतिक, पर्वोत्सवों की कुरीतियाँ, गन्दी मान्यताएं समाप्त हो रही हैं। वैवाहिक रीति-रिवाजों, उढ़ार की कुप्रथाओं, पर्दा-प्रथा, जुआ, जात-कुजात का झमेला आदि सबमें परिवर्तन दीखने लगे हैं। इस प्रकार आदिवासी समाज को अब गन्दा या अर्थहीन कहकर नकारा नहीं जा सकता।

आर्थिक जीवन

उद्योग-धन्धे, व्यापार, यातायात के साधन, कच्चेमाल का उत्पादन, शक्ति के साधन आदि ऐसे तत्व हैं जो किसी भी देश या समाज के आर्थिक जीवन को प्रभावित किये बिना नहीं रहते। आदिवासी भी इनसे प्रभावित हुआ है। आदिवासी जहाँ कंद-मूल-फल, शिकार पर जीवित रहते थे, अब कृषि, व्यापार, उद्योग करके

अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए प्रतिबद्ध हैं। कभी मिट्टी और काष्ठ के थोड़े से पात्र, तीर-कमान ही उनकी गृहस्थी के अंग थे। बिहंटी लगाते और झोपड़े बनाकर रह लेते थे, अब उनमें भी अच्छे कपड़ें, अच्छे मकान की लालसा बढ़ी है। इसके लिए अब वे नौकरी में भी दिलचस्पी लेने लगे हैं।

धार्मिक जीवन

धन से धर्म और धर्म से सुख प्राप्त होता है। धर्म संस्कृति का प्रमुख अंग है। लोक-जीवन धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। आदिवासी संस्कृति की तो नींव ही धर्म पर टिकी है। धर्म-पालन, गो-स्त्री-बाल-रक्षा, शरणागत वत्सलता, असावधान निःशस्त्र, भगोड़े एवं विपन्न शत्रु की अवध्यता, नम्रता, साहस, सत्यप्रियता, न्याय-रक्षा आदिवासियों के जन्मजात गुण हैं। सतीप्रथा, बलि, पूजा-पाठ, धर्म-विश्वास, देवाराधन तथा इष्टत्व प्राप्ति, पातिव्रत्य, जादू-टोना, भूत-प्रेत की मान्यता, शकुन-अपशकुन विचार, सतीत्व आदि की प्रवृत्तियां आदिवासियों में परंपरागत हैं तथापि आदिवासी समाज इनमें व्याप्त अंधविश्वास से क्रमशः विरत हो रहा है।

राजनीतिक जीवन

राजनैतिक उथल-पुथल तथा जनता की जागरूकता का प्रभाव भी सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करता है। आदिवासी भी उससे अलग नहीं रह सकता। एक समय था जब आदिवासी जंगल का राजा था। अब वह राजनीतिज्ञों की राज-नीतिक चाल का शिकार हो गया है। उसके विकास की सभी योजनाएं राजनीति की आड़ में बनती हैं। यही कारण है कि उन तमाम योजनाओं का जितना लाभ उसे मिलना चाहिए, नहीं मिल पाता है। इसीलिए अब आदिवासियों का भी राजनीति में दखल होने लगा है जो शुभ है।

सौंदर्यानुभूतिपरक और कलात्मक जीवन

ललित कला और सौंदर्यानुभूति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। पहनावा, श्रृंगार-प्रसाधन, चित्रकला, प्रस्तरकला, भवन-निर्माण-कला आदि हमारी सौंदर्यानुभूति के प्रतीक हैं। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में रहने के कारण आदिवासी जन्मजात कलाकार होता है। बचपन में ही वह आखेट की कला में निपुण हो जाता है। बादमें वह पैतृक पेशे में लगता और किसी न किसी कला में निष्णात हो जाता है। घसिया मादल बनाने की कला में, तो अगरिया लौहकला में, बांदी अंग-आलेखन कला में तो पनिका ताने-बाने की कला में, यानी हर जनजाति के लोग किसी न किसी कला में दक्ष होते हैं।

तात्पर्य यह है कि आदिवासी जीवन अभी भी एक अनबूझी पहेली है जिसके अध्ययन के अनेक स्रोत हैं, अनेक पक्ष हैं। यहां उनके अध्ययन का प्रयत्न किया जाएगा।

आदिवासी जीवन: परम्पराएँ और कुल-रीतियां

चिचली–पनौरा की वह रात कभी नहीं भूलती। जून का महीना था। अन्न-पानी दोनों का अकाल पड़ गया था। बड़े-बूढे, स्त्री-बच्चे सभी भूखों मर रहे थे। एक-मात्र बीड़ी-पत्ते का सहारा रह गया था। जंगल के फल-फूल, कन्द-मूल भी नहीं रह गये थे। भोर होते पूरे गाँव के आदिवासी निकल कर जंगल में चले जाते। दिनभर पत्ता तोड़कर लाते तो रुपया-बीस आने मजदूरी मिलती, जिससे वे जौ-केराव का आटा खरीदते और रोटी बनाकर साग या महुआ के साथ एक-एक रोटी खाकर सो रहते।

हम वहाँ बारह बजे रात पहुँचे थे। तब गाँव के लोग मुखिया के दरवाजे पर बैठकर पंचायत कर रहे थे कि कल किस जंगल की यात्रा करनी होगी, पानी कहां मिलेगा। पूछने पर मुखिया ने बताया "बाबू चार कोस तक कहीं पानी नहिनी। कुएँ यहाँ हैं नहीं, चूयें सब सूख गपे हैं। पहाड़ के अंदर से बूंद-बूंद पानी चूकर इकट्ठा होता है, उहइ हम पीते हैं।" एक दूसरे ने कहा—"कमर तोड़ अकाल परलबा बाबू। गाँउ-के-गाँउ उजाड़ होइ गइल बा। लयिका बिलेला होइ क खण्डा-टुक्का बदे भीखि मांगऽ तायंऽ। घरे क चूल्हा-चक्की फोरि-कूंचि क देस धइ लेले बायंऽ।"

चिचली-पनौरा की तरह ऐसी अनेक जगहें हैं जहां प्रगति या विकास की किरणें पहुँच नहीं पायी हैं। वहां आदिवासी अपने सुख-दुःख में जीते मरते हैं। वे अपनी परंपराओं के साथ इस तरह चिपके होते हैं कि शिक्षालय को वे जेहलखाना कहते हैं। अध्यापकों को लड़िकधरवा कहकर उससे दूर भागते हैं। उनसे आप पूछिये अपने बच्चों को स्कूल क्यों नहीं भेजते हो? तो वे कहते हैं—

"पढ़ले-लिखले कवन काम,
हर जोती घर आयी धान।"

आदिवासियों की शिक्षा के लिए कुछ आश्रम-पद्धति विद्यालय चलाये जा रहे हैं। उन विद्यालयों में कोल, खरवार, पनिका, धाँगर, गोंड़ आदि आदिवासी जातियों के बच्चे शिक्षा ग्रहण करते हैं, जिनके भोजन, वस्त्र, आश्रय, पुस्तकें तथा स्टेशनरी सभी प्रकार के खर्चे सरकार द्वारा दिये जाते हैं। दुद्धी स्कूल के प्रधानाचार्य जी ने एकबार बातचीत के दौरान बताया था कि यहाँ बच्चे हर कार्य समय पर करते हैं। उनके जीवन को व्यवस्थित बनाने का प्रयास किया जाता है, किन्तु उनका स्तर इतना नीचा और भावना इतनी दबी हुई होती है कि वे ऊँची बात सोच ही नहीं पाते। उनके अभिभावक अपने बच्चों को पढ़ने, पढ़-लिखकर आगे बढ़ने के लिए कम; भोजन, वस्त्र और कपड़े के लिये अधिक भेजते हैं।

दुद्धी से थोड़ी दूर आगे एक गाँव झारो है। वहाँ आज भी बिहूंटी पहनने वाले आदिवासी निवास करते हैं। गाँव के पास से एक नदी बहती है। वहाँ कुछ

आदिवासी स्त्री-पुरुष लगभग नंगे ही स्नान कर रहे थे। उन्हें देखकर एक सज्जन ने हँस भर दिया था कि वे टूट पड़े। एक-दो ने तीर-कमान उठा लिये। फिर अनु-नय-विनय के बाद ही जान बची। बाद में पूछने पर पता चला कि वे कोरवा थे। इस जाति के लोग जंगल में रहते हैं। चिड़ियों, बन्दरों और जानवरों का शिकार करके पेट पालते हैं। अपने विष बुझे तीर से उड़ती चिड़ियों और भागते हुए शेर- चीते जैसे जानवरों को मार गिराते हैं।

गाँव में और भी आदिवासी थे, जिन्होंने हमारे भोजन का प्रवन्ध किया। लिट्टी-बाटी और चोखा खिलाकर हमें संतुष्ट किया। नाच-गाने से हमारा स्वागत किया। गीत की पंक्तियाँ थीं—

"राजा बेटा खेल ले सिकारे हे ऽऽऽ।
बाझ गइले चेल्हवा मछरी हे ऽऽऽ।
नदी आरी वासे करी कीरा
मछरिन के जीव हार गइले रे ऽऽऽ।
बछरू चरना हम जाब रे ऽऽऽ।
हाँका ननदो सातों कियारी
सूना लागे हे ऽऽऽ।"

वहीं पचास वर्ष का एक आदमी बैठा था। उससे जब पूछा गया कि तुम्हारे देश का क्या नाम है ? तो उसने कहा—"दुद्धी"।

कभी मिठाई खाये हो।

"हाँ, गुड़ खइले बाईं।"

उसकी इस बात को सुनकर लोग हँस पड़े थे। लेकिन झारो स्टेशन पर पानी माँगने पर जब स्टेशन मास्टर ने कहा—"यहाँ खून माँगिये मिल जायेगा, पानी नहीं, क्योंकि खून सस्ता और पानी महँगा है।" तो उसका समाधान भी मिल गया था।

मिर्जापुर दक्षिणांचल का एक गाँव गोठानी है। यहाँ खरवार जनजाति की संख्या अधिक है। इस गाँव में ओझाई-देवाई का बहुत प्रचलन है। एक बार की घटना याद आती है। दिन के बारह बज रहे थे। हम लोग कुछ खा पीकर मंदिर के चौतरे पर विश्राम कर रहे थे। गाँव के एक कोने से आवाज आयी। लगा कि कोई देवता खिला रहा है। जाकर देखा तो गाँव के तमाम आदमी बंसरा देवी के पास एकत्र थे। एक त्रिशूल गड़ा हुआ था। उसमें लाल रंग का कपड़ा बँधा था। नीचे शराब की दो बोतलें रखी हुई थीं।

आग सुलग रही थी। लोहबान की गंध आकाश में उड़ रही थी सामने एक घेंटा (सूअर का बच्चा) बंधा हुआ था। ओझइत वगैरह सभी आ चुके थे। पूजा

प्रारंभ हो गई। स्त्रियाँ देवी-गीत की पंक्तियाँ दुहराने लगीं—निबिया के डारी माया झूलेली हिंडोलवा कि झूमि-झूमि ना।" बस देवता सवार हो गये—"अहो अहो अहो अहो अहो"

"कौन देवता हवऽ (महाराज) ?"
"अरे हम बड़का देव हई रे।"
"कहाँ रह ऽ ल ऽ।"
"नदी के किनारे सेमरे में।"
त बतावऽ तोहे कवन पूजा चाही ?"
"घेंटा।'.

तब तक चट घेंटा काटा गया। उस पर शराब छिड़की गई। ओझा की आँखे लाल-लाल हो गईं। तमाम लोगों के प्रश्नों का उत्तर ओझा देने लगे। "पानी कम बरसी रे।" फलनवां बकरा काटी त ओकर भुलाइल भंइस मिल जइहं ऽ।" फलनियां के लड़िका होखी बाकी जब........बदलवाई।" आदि-आदि। बाद में ओझा ने कई करामातें दिखलाईं। मुगदल (लौह की सीकड़) बाँधकर अपनी पीठ को लहू-लुहान कर लिया। फिर बाना (लोहे का एक प्रकार का सूजा) अपनी जीभ में डालकर निकाल लिया। हम लोग तो बाबा की करामात देखकर सचमुच आश्चर्यचकित रह गये। बाद में सबको प्रसाद बाँटा गया। पूछताँछ के बाद ज्ञात हुआ कि गाँव के लोग जब भी बीमार पड़ते हैं तो भूत-प्रेत की शंका की जाती है। दवा-दारू की जगह ओझाई-देवाई की जाती है। ये डॉक्टर को सुइगोदवा कहकर उससे दूर भागते हैं। अब धीरे-धीरे उनमें थोड़ा परिवर्तन हो रहा है। वे अंधविश्वास से मुक्त हो रहे हैं।

यहाँ मैं एक बार शिवरात्रि के अवसर पर आया हुआ था। मेला लगा था, पर सबसे अधिक भीड़ शराब की दुकान पर थी। वहाँ चालीस-पचास की संख्या में स्त्री-पुरुष जमीन पर लोटे पड़े थे जिनके मुख से फेन निकल रहा था। उन्हें उठा-उठाकर कुछ लोग छाया में या नाव पर ले जा रहे थे। लोगों ने बताया कि इनके लिए भोजन इतना जरूरी नहीं है जितनी शराब। पूरे परिवार के लोग शराब पीते हैं और रोटी-कपड़ा के अभाव में 'असमय' ही मर जाते हैं।

आदिवासी हल चलाकर, मिट्टी काटकर, गिट्टी तोड़कर, दातून-पत्ता बेचकर अथवा कन्दमूल खाकर जीता तो है किन्तु वह उसी में अत्यन्त सुख का अनुभव करता है। दिन भर के थके-मांदे युवक और युवतियां किसी सार्वजनिक स्थान पर एकत्र होते तथा रात-रात भर करमा नाचते हैं।

सिल्थम की वह रात भी कभी नहीं भूलती। शाम से ही करमा शुरू हो गया था। बीच में करमदेव की पूजा शराब चढ़ाकर की जा चुकी थी। मादल की थाप सुनते ही गाँव के स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े जुटने लगे थे। चार स्त्रियाँ चार

पुरुष, चार युवक, चार युवतियाँ, आठ-आठ के जोड़े में आमने-सामने खड़ी हो गई थीं। गीत की पंक्तियों के साथ नाच शुरू हो गया और जब शुरू हो गया तो चौबीस घण्टे तक अनवरत चलता रहा। अंगूठे लहूलुहान हो गये पर क्या मजाल जो एक नर्तक या नर्तकी कमर सीधी कर ले। नाचते-नाचते दिल पट गया तो विवाह भी हो जायगा। अरे नहीं, तीरंदाजी का भी प्रदर्शन होगा। भावी पत्नी अपने भावी पति से निशाना साधने के लिए कहेगी, निशाना ठीक सधा तो विवाह तय अन्यथा कुट्टी।

सचमुच कितनी विसंगतियां हैं आदिवासियों के जीवन में! कैसी-कैसी परंपराएं हैं उनकी? कैसे रीति-रिवाज, अंधविश्वास, पर कितने निर्द्वन्द्व, कितने सुखी हैं ये। क्या इनसे अलग रहकर जीवित रह सकेंगे वे? नहीं, तो आइये आज हम यह सही निर्णय लें कि इनकी संस्कृति की रक्षा करेंगे, इनकी परंपराओं और कुलरीतियों को जीवित रखेंगे पर इनके दुःखी जीवन को सुखी अवश्य बनायेंगे। इनकी अलग बस्तियां बसायेंगे। इनके लिए शिक्षा, चिकित्सा की सुविधाएँ प्रदान करेंगे और इनके गीतों, गाथाओं को संरक्षित करेंगे।

•

आदिवासी-जीवन उनके संस्कार-गीत

कोटा-बीना का वह छोटा सा गाँव। तब वहाँ केवल गाँव था। गाँव के लोग थे—अपढ़ आज की सभ्यता से दूर आदिवासी। उन्हें तन ढकने के लिए एक बिहंटी ही पर्याप्त थी। भोजन का काम कन्द-मूल-फल, चकबड़ के साग, सरई-महुआ से चल जाता था, उन्हें अनाज भी खाने को मिलता था किन्तु 'चोकर खाय तो धोकर होय' वाली कहावत उनपर हू-ब-हू चरितार्थ होती थी। और यह भी कि—

"रूखा सूखा खाइ के ठंढा पानी पीउ।
देखि पराई चूपड़ी मति ललचावौ जीउ॥"

हम वहाँ एकबार जेठ की दुपहरी में पहुँचे थे। मंदिर के पास मेला लगा हुआ था। मेले में तमाम आदिवासी दूर-दूर से आये हुए थे। देवी के धाम में सूअर और मुर्गे की बलि दी जा रही थी। होम-साकले के साथ मादल के थाप से आकाश गूंज रहा था। कुछ नर्तक और नर्तकियाँ भावी युवक और युवतियाँ नाच गा रही थीं। गीत की पंक्तियाँ थीं—

"होबे गले गहुमनवे क हार।
छीपा पटकली सासु लोढ़ा पटकलीं

अच्छत दिहली छितराइ,
होत गले गहुमनवे क हार।
अइसन सिवदइया हमनऽपरिछलीं,,
बलु गउरा रहिहैं कुंवार,
होत गले गहुमनवे क हार।
अइसन भाभी मोरा कोहबर लिखावइलीं,
सो हो कोहबर दिहलीं मिटाइ,
होत गले गहुमनवे क हार।

इस संस्कार-गीत में शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। आदिवासियों में शिव-पूजा की परंपरा अनादि काल से प्रचलित है। यह गीत प्रायः विवाह के अवसर पर गाया जाता है। सुदर्शन वर का जैसा आग्रह कन्या पक्ष के परिजनों को रहता है, उसकी सहज अभिव्यक्ति हुई है।

आदिवासियों के सारे संस्कार प्रायः किसी सार्वजनिक स्थल या देव-स्थान पर होते हैं। ऐसे अवसरों पर वे नाचने-गाने का विस्तृत आयोजन करते हैं।

संस्कार गीत छह प्रकार के होते हैं—पुत्र-जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवन और मृत्यु। जहां तक आदिवासी संस्कार-गीतों का सम्बन्ध हैं जन्म, क्रीड़ा, गोचारण, शस्त्र-धारण, शिकार, प्रेम, विवाह, वियोग, वनवास, जीवन-यापन तथा मृत्यु आदि से सम्बन्धित सभी प्रकार के गीतों को शामिल किया जा सकता है। जन्म से सम्बन्धित एक गीत की चार पंक्तियां देखिये—

"अँखिया टँगल मोर वनवा के छोरवाँ,
कइसे क आई मोर बेदर्दी छैला रे,
संघतियन बहुरियन क भइना छोकरवा रे।
आपन कोखिया न एकउ छोकरियो रे,
आव सुना बेदर्दी छैला रे।"

उनके गीतों में आदिवासी जीवन की विसंगतियों का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। दो सखियों का एक साथ ब्याह होता है किन्तु एक को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हो जाती है, दूसरी को नहीं क्योंकि उसके पति तो ब्याह होते परदेश छा गये। पुत्र पैदा होने के कारण एक ओर बधाइयां बज रही हैं तो दूसरी ओर पति-वियोग में एक क्षण काटना भी दूभर हो गया है।

बच्चा जब पाँच-सात माह का होता है तो उसे अन्न खिलाया जाता है। अन्न के रूप में कोदो, सवाँ का भात या मछली का सुरवा पिलाया जाता है। महुआ का रस या उसकी लपसी (हलवा) फल अथवा कन्द भी दिया जाता है। कुछ

और बड़ा होने पर वह गाय, भेंड़, बकरी चराने जाता है। वह वन में कहां-कहां भटकता है ? और माँ के हृदय में उसके प्रति कैसी भावनाएँ उठती हैं, गीत की इन पंक्तियों में देखिये—

"कवन वन गइया रे चरावे,
ननदो कवन घाटे पनिया रे पियावे
ननदो जमुन घाटे पनियां पियावे।
ननदो धीरे-धीरे गइया ढरकावे
ननदो हो धीरे-धीरे घटवा चढ़ावे
ननदो कदम तर गइया ऽ ठहराये
नीबी तर बछरू छनावे,
ननदो अपने कदम चढ़ि जाई।"

ये पंक्तियां "गोरज-बिराजे भाल, लह-लही बनमाल आगे गइयां पीछे ग्वाल, गावैं-मृदुतान री" से किसी प्रकार कम नहीं हैं। यह बात और है कि आदिवासियों द्वारा प्रमाणीत होने के कारण उन्हें उतनी लोकप्रियता अभिजात साहित्य में नहीं मिली जितनी मिलनी चाहिये थी। किन्तु यह मानना होगा कि जनता का, विशेषतः स्त्री-समाज की मानसिक स्थितियों का, विश्लेषण करने के लिए ये लोकगीत सर्वाधिक सही माध्यम हैं। गांवों की आर्थिक दशा, सामाजिक व्यवस्था, पारिवारिक परिवेश, ऊँच-नीच की भावना, शोषण की प्रक्रिया, जीवन को ऊँचा उठाने की कला, उसमें भी मस्ती और आनन्द आदि भावों का मर्मस्पर्शी चित्रण जितना लोकभाषा के इन जनजातीय गीतों में देखने को मिलता है उतना अन्य गीतों में नहीं।

आदिवासी बालक शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की कला तो मानो माँ के पेट से ही सीख कर आते हैं। तब भी तीर-कमान चलाने की शिक्षा वे ग्रहण करते हैं। इसके लिए उत्सव मनाने, नाचने, गाने, की परंपरा भी प्रचलित है। गीत की पंक्तियाँ देखिये—

"छोट भइया छोड़े तीर रे धनुहियां,
ननदो हो छोट भइया छोड़े हो बनूक,
कइसन बोले तीर हो धनुहियां
ननदो हो कइसन बोले ला बनूक,
सायं-सांस छूटे ले तीर रे धनुहियां,
ननदो हो बादर घहरे छूटे ली बनूक।

दो भाई हैं। एक तीर-कमान चलाता है, दूसरा बन्दूक। एक की आवाज सांय-सांय होती है तो दूसरे की बादलों की गड़गड़ाहट जैसी। सचमुच कितनी शक्ति

है इनकी बाहों में कि वे तीर-कमान से दौड़ते शेर और उड़ती चिड़ियों तक का शिकार कर डालते हैं।

छोटी अवस्था में ही बालक-बालिकाओं का विवाह सम्पन्न हो जाता है। अन्य जातियों में जहाँ विवाह के अवसर पर बधाइयां बजती हैं, वहीं आदिवासी समाज में किन्हीं परिस्थितियों में दुःख और शोक का वातावरण भी देखा जाता है। दुःख-सुख दोनों की समान स्थिति बनी रहती है।

सामान्यतया संस्कार गीतों में मंगल कामना, समृद्धि के स्वप्न से आशीर्वाद और विनम्रता अधिक दिखलाई पड़ती है। किन्तु आदिवासी संस्कार गीतों में हर्ष के साथ विषाद दिखाई पड़ता है। ऐसा इसलिए है कि आदिवासी सदियों पुरानी परंपराओं, मान्यताओं तथा अन्धविश्वासों में जकड़ा हुआ है। साथ ही निरंतर शोषित होने के कारण सुख और आनन्द की अभी कल्पना भी वह नहीं कर पाता। वह अपने आसपास जो कुछ देखता है, जो जीवन में अनुभव करता है और भोगता है उसी को गीतों में व्यक्त कर देता है। वह यहां अपने किसी प्रिय की मृत्यु पर शोक मनाता हुआ कहता है——

"रसिया के काहे नागा डंसल रे,
भाई रोवे गोड़सर, बहिन रोवे मुड़सर,
धनियां रोवत पटसार,
काहे नागा डंसल रे।"

नाग ने डँस लिया। भाई पांव की ओर, बहिन सिर की ओर और उसकी पत्नी पाटी पकड़ कर रोने लगी। अब क्या होगा ? वही तो एक कमाने वाला था। दिन कैसे कटेंगे ? वहीं दूसरी ओर, कोल 'छाँटे कोदइया कोलिन मुसकाइ' जैसी पंक्तियों में पति-पत्नी के हास वार्तालाप तथा कार्य-प्रणाली का परिचय मिल जाता है।

इसी प्रकार नवागता घर से बाहर निकलती है। इस पर गाँव के किसी सामंत के बेटे की नजर पड़ जाती है, वह उसे घूरता और कुछ बोली भी बोल देता है इस पर वह कहती है——

"के छैला मोर आँचर धरे,
आँख तोर फूटे रे,
जवानी घुन लागे रे।

इस तरह एक नहीं अनेक भाव-चित्र इन गीतों में देखे जाते हैं। आज की सभ्यता सिनेमा, थियेटर और टेलीविजन आदि के प्रचार-प्रसार में गीत अब लुप्त होते जा रहे हैं और कहना चाहिए कि इनके संग एक मूल और प्राचीन संस्कृति भी नष्ट होती जा रही है। क्या इसकी सुरक्षा सम्भव है ?

आदिवासी बालकों का जीवन

आकाश में बादल छाए हुए थे। थोड़ी-थोड़ी हवा भी चल रही थी। हमारी बस साखू और आबनूस के वनों से गुजर रही थी। मारकुण्डी घाट से ही रास्ते का उतार-चढ़ाव शुरू हो जाता है। यह उतार-चढ़ाव जीवन में भी लगा रहता है, खासकर यहां के जीवन में।

यहां आदिवासी जातियां रहती हैं। जंगल ही इनका जीवन है, जंगल ही घर। ये जंगल के फल-फूल खाकर शताब्दियों से अपना जीवन ढोते आ रहे हैं। इन्होंने न तो अन्तर्राष्ट्रीय महिला-वर्ष का लाभ उठाया और न अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष में बच्चों को सुख सुविधा प्राप्त करने की बात सोच रहे हैं। मैंने जब बस में बैठे एक एम० एल० ए० साहब से पूछा, "इस क्षेत्र के आदिवासी-बालकों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष पर सरकार क्या सोच रही है ?" तो उन्होंने कहा, "अभी तो वर्ष शुरू ही हुआ है। नीतियाँ तो राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित होती हैं। इस क्षेत्र के बारे से अलग से तो कुछ किया नहीं जायगा। हां, वैसे कुछ तो किया ही जायगा।"

हमारी बस मारकुण्डी घाट उतरकर सोन घाटी में आ जाती है। इस घाटी की माठी चम्बल-घाटी से भिन्न है। वहां डाकू और लुटेरे रहते हैं, यहां सीधे-सादे आदिवासी। गुर्मा में पत्थर तोड़ने का काम होता है जिससे सीमेंट तैयार किया जाता है और पत्थर तोड़ने का काम करते हैं आदिवासी और इनके बच्चे। उन्होंने स्कूल का मुख कभी देखा ही नहीं।

बच्चों की मृत्यु-दर अधिक

यहां के तमाम आदिवासी झुग्गियों में रहते हैं। मां का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण अधिकतर तो पैदा होते ही मर जाते हैं। बच गए तो कुछ बड़ा होने पर दवा-दारू के अभाव में मर जाते हैं। इस प्रकार आदिवासी, बच्चे तो अधिक पैदा करते हैं, किन्तु वे उनके काम नहीं आते। मैंने जगन कोल से पूछा, "कितने बच्चे हैं, तुम्हारे ?" तो उसने बताया, "सात, चार बेटे तीन बेटियां।"

"क्या करते हैं ये ?"

"बड़का और उनसे छोटका देश घूमते हैं। भीख मांग के पेट पालते हैं।"

"तुम उन्हें अपने साथ क्यों नहीं रखते ?"

"क्या करेंगे बाबू। बाहर तो कमाएंगे, खाएंगे, बचेगा तो चार पैसा हम भी ले आएंगे।"

"अब ये कब आएंगे ?"

"चार महीने बाद। कार्तिक में जाते हैं, फसल पर माघ में लौट आते हैं, जब फागुन में जाते हैं तो बैशाख में आते हैं, जब पत्ता का समय आता है।

गीतों का भोजन

आदिवासी बालकों का बारह महीने का समय बंटा हुआ है। वे दोनों फसलों पर लगभग छह महीने मादल बजाकर, नाच-गाकर भीख मांगने का काम करते हैं। वैशाख-जेठ दो महीने पत्थर तोड़ते, हलवाही, चरवाही करते हैं। मादल बजाते, नाचते-गाते नंग-धड़ंग दुकानों पर घूमते हैं। इन्हें काशी-प्रयाग तक के शहरों में देखा जा सकता है। अम्बेलाल अपने तीन अन्य साथियों के साथ ओबरा बाजार में नाचते हुए गीत की ये पंक्तियां गा रहा था :—

"कइसन रजवा कइसन देवान,
कइसन मरदवा होले तुरुक पठान।
छावड़ी अब जिन जाय दूरी परदेस,
कइ दिन रजवा कइ दिन देवान।
सररि-सररि बान मारे,
देखत हनुमान हार माने॥
काहेन क धनुष-बान,
काहेन क तीर-कमान
अब ओही पर गोलिया लगावे।"

ऐसे गीत आदिवासियों के बच्चे प्रेरणा-गीत के रूप में बचपन में ही याद कर लेते हैं। आदिवासी बच्चे शिकार-प्रेमी होते हैं। धनुष-बाण लेकर प्रातःकाल ही जंगल में निकल जाते हैं और शाम तक कुछ न कुछ मारकर खाने के लिए घर ले आते हैं। वे विष-बुझे और अपने हाथों बनाए हुए बाणों से शेर तक का शिकार कर डालते हैं। उनकी जीविका का मुख्य साधन गीत है।

रोजगार की तलाश

आदिवासी जंगल से कई तरह का लाभ उठाते हैं। वे शिकार के अतिरिक्त कन्द-मूल-फल को सेवन करते हैं। लकड़ी काटकर और पत्ता तोड़कर बाजार में बेचते हैं। आंवला, हर्रा, बहेड़ा, दातून, घास आदि भी जंगल ही से लेकर बाजार में बेचते और अपना पेट पालते हैं किन्तु अब तो ये साधन भी समाप्त हो गए क्योंकि वनों को काटने पर रोक लग गई है। ओबरा में रविवार के दिन अनेक वनवासी बाजार करने आए थे। मैंने एक से पूछा, "कितनी दूर से आए हो दातून लेकर ?

"पाँच कोस से।" उसने डरते और सहमते हुए कहा।

"कब चले थे ?"

"रात चार बजे।"

"कितना मिपैसा लेगा, इस दातून को ?"

"ईहे ढेढ-दू रुपिया।"

"क्या खरीदोगे इससे ?"

"नून, गुड़, तमाखू, तेल, बीड़ी, अउर का ?"

इस डेढ़-दो रुपये के लिए इनका दो दिन का श्रम लगा था और इससे वे जो अपनी आवश्यकता की वस्तुएं खरीदेंगे, वे एक सप्तह चलेंगी। ये नन्हे-मुन्ने बच्चे एक दिन पहले ही इसे जंगल से तोड़ लेते होंगे। फिर चार बजे रात ही चलकर हड्डियों को कंपाने वाली इस ठंड में आठ बजे तक ओबरा आ गये होंगे। इस ठंड में जहां एक ओर ओबरा के सम्पन्न लोग आठ बजे से पहले घर से बाहर नहीं निकलते, वहीं दूसरी ओर ये आदिवासी बालक नंग-धड़ंग जंगल से यहां आ जाते हैं।

शिक्षा की उपेक्षा

ये बच्चे स्कूलों में पढ़ने नहीं जाते। इसका कारण जब मैंने कोटा के एक मजदूर पिता से पूछा तो उसने कहा, "खाए के ठेकान नहीं, बाबू नहाए के तड़पे" दोनों के कहने का मतलब एक ही था, 'ये पढ़ने चले जाएंगे तो घर का काम कौन करेगा। ये बच्चे माता-पिता जब कमाने चले जाते हैं तो घर देखते हैं। छेंड़-भेंड़ चराते हैं या बीड़ी-पत्ता तोड़कर रुपयों बीस आना कमा ही लेते हैं।

यहां आश्रम-पद्धति विद्यालयों में कुछ आदिवासी पढ़ते हैं जहां भोजन-वस्त्र सब दिया जाता था। किन्तु जहां ये सुविधाएं प्राप्त नहीं, ये पढ़ने नहीं जाते। दुद्धी तहसील में अधिकतर ऐसे विद्यालय हैं जिनमें न अध्यापक रहते हैं, न विद्यार्थी लेकिन स्कूल चलता है। महीने में दो-चार दिन के लिए मास्टर साहब वेतन लेने आते हैं। फर्जी नाम रजिस्टर पर लिखे होते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय बाल-वर्ष पर हमारे निम्नलिखित कुछ सुझाव हैं :

1. आश्रम-पद्धति विद्यालयों की संख्या बढ़ाई जाए जहां आदिवासी बालकों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, पुस्तकों आदि की सुविधाएं प्रदान की जाएं;

2. विद्यालयों में स्थानीय लघु-उद्योगों का प्रशिक्षण भी दिया जाए जिससे बच्चे पढ़ने के बाद निकलें तो किसी न किसी काम में लग जाएं;

3. बाल मजदूरों से काम न लिया जाए, बाल-बंधुआ मजदूरों को मुक्त किया जाए। इसके लिए सरकार विशेष कानून बनाए और उसका पालन भी कराए;

4. आदिवासियों की आर्थिक स्थिति सुधारी जाए;

5. आदिवासी क्षेत्रों में चिकित्सालय खोले जाएं जहां बच्चों तथा बड़ों को भी उपयुक्त चिकित्सा की सुविधा प्राप्त हो,

6. सम्पन्न जनता में ऐसी प्रवृत्ति पैदा की जाए कि वह आदिवासी जातियों का शोषण न करे।

आदिवासी महिलाओं का जीवन

आदिवासी-संस्कृति अपने देश की मूल संस्कृति है जिसका आरम्भ जंगलों, पहाड़ों, खोह-कन्दराओं तथा नदियों की तलहटियों से हुआ है। विन्ध्य तथा कैमूर की गुफाओं में चित्रित प्रागैतिहासिक चित्र इस तथ्य को उद्घोषित करते हैं कि सहस्त्राब्दियों पूर्व इनका पारिवारिक जीवन भी बड़ा सुखमय तथा संतुलित-संयमित था। परिवार में महिलाओं का बड़ा सम्मान होता था। कार्य-कुशल गृहिणी तो वे तब भी थीं और अब भी हैं। आज भी आदिवासी बहिनें बैठकर नहीं, कमाकर खाती-खिलाती हैं। वे पुरुष पर सदा अंकुश रखती हैं और उसके हर कार्य में अपना सक्रिय सहयोग भी करती हैं। स्वावलम्बन की भावना, कर्तव्यपरायणता, निर्भीकता, आदि गुण जितने और जिस रूप में आदिवासी बहिनों में मिलते हैं उतने सभ्य समाज की पढ़ी-लिखी बहिनों में भी नहीं मिलते हैं ?

इधर नशाबन्दी पर बड़ा बल दिया जा रहा है। आदिवासियों में शराब पीने की लत बड़ी भयावह रूप से अब भी है, जो इन्हें तोड़ रही है। इनकी गरीबी का मूल कारण भी यही है। मिर्जापुर में कई लाख रूपये का शराब का ठेका प्रतिवर्ष आदिवासियों के बल पर चल रहा है। किन्तु अब वहाँ का आदिवासी-समाज जाग उठा है और शराबबंदी में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं आदिवासी बहिने। महिलाओं की प्रेरणा से दक्षिणांचल के ८००० आदिवासियों ने हस्ताक्षर करके सरकार को सूचित किया है कि वहाँ पूर्ण रूप से नशाबन्दी लागू कर दी जाय और वे कभी भी शराब न पीने की प्रतिज्ञा करते हैं। वे अपने पतियों पर शराब न पीने के लिए दबाव डाल रही हैं और यह कह रही हैं कि उनके पतिदेव अगर शराब पीकर आयेंगे तो वे घर के अन्दर उन्हें प्रवेश करने नहीं देंगीं। कितनी तो पति के शराब पीने पर रूठकर नैहर चली गयीं और उनके शराब छोड़ देने पर ही घर आयीं। तात्पर्य यह है कि जहाँ वे स्वयं रात दिन शराब में धुत्त रहती थीं वहीं वे इस स्तर पर उतर आयी हैं कि अब वे शराब का नाम भी सुनना नहीं चाहतीं। इससे उनके आर्थिक जीवन में सुधार हुआ है।

इनकी वर्तमान स्थिति अत्यन्त दयनीय है। गरीबी गोड़ तोड़कर इनके मत्थे पड़ी है। इनके पास आजीविका का कोई साधन नहीं है। बसने के लिए जमीन तक नहीं है। यही कारण है कि खानाबदोश और बनजारों की जिन्दगी जीने के लिए ये मजबूर हैं। इनका रहन-सहन, खान-पान गन्दा होने के कारण ही ये घृणा के पात्र बने हुये हैं। इन्हें बस सहारा एकमात्र बँधुआ मजदूरी का है। रोज कुआँ खोदते हैं और पानी पीते हैं। महिलायें और नन्हें-मुन्ने बच्चे भी अधिक परिश्रम करके रोटी कमाते हैं। गर्भवती महिलाओं को भी पत्थर तोड़ते-लादते देखा गया है। प्रसविनी स्त्रियाँ बच्चों को गठरी की तरह पीठ पर लादेहुए काम करती रहती हैं महज पेट के

लिए। कितनी तो बीमार होकर दवा के अभाव में, चढ़ती जवानी में ही दम तोड़ देती हैं। अधिक परिश्रम के बाद भी, उनके तन पर फटे-पुराने, मैले-कुचैले चिथड़ों के अतिरिक्त कभी अच्छे कपड़े दिखलायी नहीं पड़ते। साज-शृंगार के नाम पर गुरिया और घुमची के माले, लकड़ी के बने कंगन, लवंग की नकफुल्ली, नरकट के ऐरन ही नसीब हो पाते हैं। भोजन के नाम पर कन्द-मूल फल, साग-पात के सिवा और क्या मिलता है ? काम किया तो ज्वार, बाजरा या खेसारी का आटा खरीदकर खाती हैं, जिससे बीमार और लँगड़ी हो जाती हैं। उनके आर्थिक जीवन को सुधारने के लिए आवश्यक है कि उन्हें बसने के लिए जमीन दी जाय, उस पर उनका कब्जा बरकरार रखा जाय, उनको खेती के लिए भी जमीन दी जाय, फैक्ट्रियों में काम मिले, लघु उद्योगों की स्थापना के लिए आर्थिक सहायता और संरक्षण प्रदान किया जाय। कहना न होगा कि सीमेन्ट, फैक्टरी अल्युमिनियम, कोल और विद्युत के कारखाने उन्हें कुछ विशेष लाभ नहीं दे सकते जब तक कि उनके मूलभूत परम्परागत उद्योग रस्सी बाँटना, मधुमक्खी पालना, पशु पालन, डलिया आदि बनाने, तेल निकालने, सूत कातने, दरी-गलीचा बनाने आदि को विकसित नहीं किया जायगा।

आदिवासी अपनी सांस्कृतिक धरोहर पर प्रहार बर्दाश्त नहीं कर सकता। उनके अपने अलग के रीति-रिवाज तथा चाल-चलन हैं, जिनको वे छोड़ नहीं सकते। वे अपने पर्वोत्सवों को मस्ती और आनन्द के वातावरण में मनाना चाहते हैं। आदिवासी छककर करमा खेलते हैं जिसमें स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते हैं। आदिवासी बहिनें इसमें अधिक रुचि लेती हैं। इनके आमोद-गृह होते हैं जिनमें दिन भर अथक परिश्रम के बाद वे एक होकर नृत्य-संगीत के द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं। इनमें प्रायः युवक-युवतियाँ भाग लेती हैं। कभी-कभी वे आपस में प्रेम-विवाह भी कर लेते हैं। इसी प्रेम-विवाह के चलते आदिवासियों में दहेज की प्रथा बिल्कुल नहीं है। कहीं-कहीं इनमें खुला भ्रष्टाचार और मद्यपान की प्रथा भी देखी जाती है जिसके कारण आदिवासी बहनों का स्वास्थ्य युवावस्था में ही खराब हो जाता है। मध्य पदेश की एक आदिवासी महिला ने एक साक्षात्कार में बताया कि अब उनमें काफी सुधार हुआ है। कुछ पूंजीपति, व्यापारी तथा ठेकेदार ने आदिवासी महिलाओं की गरीबी का नाजायज लाभ उठाने का प्रयास करते और दस-पाँच रुपये देकर उनकी इज्जत लूटना चाहते हैं, किन्तु अब इस दिशा में भी काफी कुछ किया जा रहा है।

आदिवासी बहनों का जीवन दुःखी होने का एक और कारण है, उनमें अंध-विश्वास का पाया जाना। वे भयंकर से भयंकर बीमारियों में झाड़-फूंक और ओझाई से काम चला लेती हैं। टोना-टोटका, भूत-प्रेत और मंत्र-तंत्र में उनका इतना विश्वास है कि उसे हर मर्ज की दवा समझती हैं। किसी महिला को यदि

बच्चा पैदा नहीं होता तो वह ओझा का दरवाजा खटखटाती है। यहाँ तक कि हैजा जैसी बीमारी में भी ओझा ही बुलाया जाता है। इस तरह अंधविश्वास के कारण उनकी आर्थिक हानि तो होती ही है, सामाजिक, नैतिक ह्रास भी होता है। ये दुःखद स्थितियाँ हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार द्वारा इनको भी दूर किया जाना अनिवार्य है।

वे आदर्श गृहिणी के रूप में पति के हर कार्य में सहयोग करती हैं प्रातः से रात तक वे अपने किसी न किसी कार्य में ही लगी रहती हैं। अपने घर-गृहस्थी का कार्य तो करती ही हैं, कूटने-पीसने, फसल काटने, बोझ ढोने, मिट्टी फेंकने आदि का काम करके अपनी रोटी स्वयं कमा लेती हैं। वे पति की कमाई पर निर्भर नहीं करतीं। इस दिशा में पढ़ी-लिखी स्त्रियों को भी शिक्षा लेनी चाहिये। सामान्य घरों की अस्सी प्रतिशत स्त्रियाँ, चूल्हे-चौके के बाद अपना कुछ कर्तव्य ही नहीं समझतीं और बैठकर खाती हैं। आदिवासी बहिने परिश्रमी, ईमानदार, निर्भीक, स्वावलम्बी, कर्तव्यपरायणा, स्वाभिमानी होने के साथ ही साथ संगीत, कला, नृत्य, गायन, वादन आदि कलाओं में भी दक्ष होती हैं। उनमें निहित इस कला-भावना को और अधिक विकसित किया जा सकता है, बशर्ते उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाया जाय और उनमें विकसनशील वृत्ति का विकास करना भी अनिवार्य है वर्ना सदियों से चली आ रही अपनी हीन भावना के कारण वे ऊपर उठने की बात सोच भी नहीं पातीं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सबसे पहले हम उनकी हीनता की भावना से उन्हें मुक्त करें।

●

आदिवासी युवजन और उनके जीवनादर्श

जिन्दगी एक पहेली है, जिसे बूझना सभी चाहते हैं; पर उसे विरले ही बूझ पाते हैं। जो बूझ पाते हैं वे ही जीने की कला भी जानते हैं। आदिवासी इस कला में निपुण होते हैं। सच कहिए तो वास्तव में, मस्ती जीवन की एक अनिवार्य शर्त है जो मन के संतुलन और स्वभाव पर निर्भर करती है। यही कारण है कि फटेहाली का जीवन जीने वाला जितना सुखी रह लेता है, उतना साधन सम्पन्न नहीं। आदिवासी-जीवन की सबसे बड़ी सफलता का रहस्य उसकी मस्ती है। आज की प्रगति उसके लिए बेमानी है। वे बनावटी और जटिल जीवन के पक्षधर नहीं हैं। भोगवादी जीवन से अपरिचित, एकान्त और शान्त जीवन जीने के अभ्यासी आदिवासी जन, आज भी अपनी परंपरागत जीवन-शैली, रीति-रिवाज, आचार-विचार, रहन-सहन और मनोरंजन के लिए रूढ़िवादी कहे जाते हैं, पर इनके रहन-सहन के तौर-तरीके से हम बहुत कुछ सीख भी सकते हैं।

आदिवासी स्वभाव से छल-कपट रहित होता है। सचाई, ईमानदारी, सादगी उसके जीवन के सहज स्वाभाविक गुण हैं। वह वचन का पक्का होता है। धुन का तो इतना पक्का होता है कि किसी बात के लिए प्राणों की भी परवाह नहीं करता। वह क्रियाशील, कर्तव्यनिष्ठ और अपने बाहुबल पर भरोसा करने वाला होता है। ये गुण उसमें बहुत कुछ वंश-परंपरा और वातावरण से आते हैं। उनके भी क्लब होते हैं जिन्हें वे 'घोटुल के नाम से पुकारते हैं।

घोटुल गृह : एक पाठशाला

हर आदिवासी घुमन्तू, कबीला और स्वच्छन्द जीवन का अभ्यासी होता है। भोर होते ही वह शिकार या रोजी-रोटी की तलाश में निकल पड़ता है। दिन भर के अथक परिश्रम के बाद जब वह अपनी राम-मड़ैया में पहुँचता है तो रूखा-सूखा खाकर एक सार्वजनिक स्थान पर मनोरंजन के लिए एकत्र होता है। उस स्थान को बिहार में घोटुल के नाम से पुकारा जाता है। घोटुल में युवक-युवतियाँ एकत्र होती हैं। सभी सम्मिलित रूप से नाच-गाना करते हैं। सामूहिक रूप से खान-पान की व्यवस्था रहती है। वे सामाजिक काय में हिस्सा बँटाते हैं।

प्रत्येक घोटुल का एक मुखिया होता है जिसे 'सलाउ' कहते हैं। घोटुल के सदस्यों की औसत आयु साधारणतया 15 वर्ष होती है। यहाँ उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों से परिचित कराया जाता है। नाचना-गाना तो सबके लिए अनिवार्य होता ही है। यहां एक प्रकार से कामशास्त्र की शिक्षा भी उन्हें दी जाती है। युवक-युवतियाँ बिना किसी भेद-भाव के एक-दूसरे से हाथ में हाथ मिलाकर नाचते-गाते और यदि मन पट गया तो बिना किसी खर्च-दहेज के आपस में विवाह भी कर लेते हैं।

करमा आदिवासियों का सबसे प्रमुख नृत्य-विधा है जिसे वे वेरियर एलविन के शब्दों में 'जीवन की अनिवार्य शर्त समझते हैं। यही उनकी जीवन-शैली है, जीवनी-शक्ति है, सर्वस्व है। आदिवासी जो नाचता है, कभी नहीं मरता, ऐसा उनका विश्वास है।' यहां युवकों के लिए प्रेरणाप्रद करमा की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

के छैला मोरे आँचर धरे—
आंख तोर फूटे ऽऽऽ।
जवानी घून लागे हो ऽऽऽ रे ऽऽऽ।
होरे ऽऽऽ फूल लोरे ऽऽऽ गइली ऽऽऽ
डारी भरे लोइली ठोछवा ऽऽ:।

एक चरित्रवान युवती कहती है "फूल तोड़ने गयी थी। डाली से फूल तोड़कर आंचल भर लाई। मेरे प्रियतम ने मेरे लिए दस रंग की चोली और बीस रंग की बंडी सिला दी थी। उसे पहिनकर बाहर निकली ही थी कि मनचले छैला

ने मेरा आंचल पकड़ लिया। उस समय तो मेरे मुख से बस यही निकला कि तुम्हारी आंख फूट जाय, तुम्हारी जवानी में घून लगे।

इन पंक्तियों में गांव की युवती का चरित्र उभर आया है, साथ ही सामन्ती व्यबस्था का विरोध भी है।

नशेबाजी का विरोध

आदिवासियों के प्रति यह आम धारणा बन चुकी है कि वे अनिवार्य रूप से नशेबाज और शराबखोर होते हैं। किन्तु वास्तव में नशेबाज की समाज में अवहेलना भी होती है। कौन माता-पिता चाहेंगे या पत्नी चाहेगी कि उसका पुत्र या पति नशेबाज निकले। यदि नशेबाज हो जाता है तो अच्छी सती-साध्वी पत्नी उसे नशा छोड़ने की शिक्षा देती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

मोर राजा छइला रे ऽ ऽ ऽ
बेंचि-बेंचि लत्ता खाये लगिले भांगि रे ऽ ऽ ऽ
सुर्ती अ तमाखू खाइ, भइले मझमेला रे ऽ ऽ ऽ
खाये लगिले भंगिले पान रे ऽ ऽ ऽ

सुखी पारिवारिक जीवन

आदिवासियों का पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखी होता है। इनका छोटा परिवार होता है। बेटा जब परिवार का बोझ वहन करने योग्य हो जाता है तो माता-पिता उसे जिम्मेदारी का काम सौंपकर अलग कर देते हैं। फिर युवा-युवती अपना एक नया संसार बनाते हैं। एक-दूसरे के काम में हाथ बँटाते और दोनों कमाते-खाते हैं। ऐसा नहीं है कि पति कमाये और पत्नी बैठकर खाये। यहाँ भुइंहारी गीत की कुछ पंक्तियां देखिये—

हँ त हो चलऽ चली सांवर हो देस-विदेश
तूँ तऽ सांवर लेला गठरिया-मोटरिया—
हम लेवै ढोल तलवारी
तूँ त सांवर जइबा ओरियां हो खोरियां
हम जावै सबहै खोऽऽऽर।

पुत्र, पति-पत्नी घर से रोजी-रोटी के लिए निकल पड़ते हैं पत्नी पति से कहती है, तुम गठरी ले लो और मैं ढोल-तलवार ले लेती हूँ। तुम कोने-कोने जाओगे मैं भी खोरी-खोरी घूमूँगी। ढोल बजाऊँगी और अपनी रक्षा के लिए तलवार रखे रहूँगी।

आदिवासियों में अनमेल विवाह की प्रथा प्रायः नहीं है। युवक जब कमाने-खाने लायक हो जाता है, जिम्मेदारी सम्भाल लेता है, तभी विवाह करता है। विवाह के बाद भी जब पति लापरवाह सिद्ध होता है या पत्नी चरित्रहीन या फुहरी निकल

जाती है तो तलाक भी हो जाता है। इसीलिए योग्य वर की खोज की जाती है। देखिये, एक गीत में गोरी के तिल-तिल बढ़ने और फिर उसके योग्य वर ढूढ़े जाने की बात कितनी मार्मिक ढंग से की गयी है।

लीपऽ लीपऽ पियरी क पात डोलै
दीपऽ दीपऽ उगे ले जोन्हइया
तील तीलऽ बढ़ेले गोरी क देहियां
अड़हर खोजे बड़हर खोजे
कतहूँ न मिले जोड़ी जवान।

यहीं कारण है कि आदिवासियों में चरित्रहीनता प्रायः नहीं देखी जाती। कोई भी युवक या युवती बदचलनी में पकड़ा जाता है तो उसे सामाजिक दण्ड भुगतना पड़ता है। उसे अपमानित होना पड़ता है। फिर पंचायत द्वारा उसे जाति-निकाला का दण्ड भी दिया जाता है। आदिवासी युवजन माता, पिता, भाई, गुरु, गौहां, मुखिया और पंचायत की बात मानते हैं और कभी भी उसके विपरीत आचरण नहीं करते।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आदिवासी युवजन, वीर, बहादुर, स्वस्थ, ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण, चरित्रवान, कार्यकुशल, आज्ञापालक, वचन और धुन के पक्के, घर परिवार और समाज के प्रति जिम्मेदार, दहेज तथा नशाखोरी आदि कुरीतियों, के विरोधी और जीवन के प्रति जागरूक होते हैं। नयी सभ्यता के युवकों-युवतियों को उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए।

●

द्वितीय अध्याय

आर्थिक जीवन : कृषक और श्रमिक वर्ग की जनजातियां

कैमूर-घाटी कहें या सोन-घाटी दोनों एक ही जीवन की अभिव्यक्ति देते हैं। यहीं बेलन और सोन संस्कृतियों का संगम हुआ है। कैमूर की कंदराओं में, विन्ध्य की गुफाओं में और रेणु, बिजुल, सोन आदि नदियों और भेंड़ाघाट, कोराई घाट, खोढ़वा पहाड़ से सतत् प्रवाहित नालों-झरनों में सहस्त्राब्दियों की संस्कृतियां देशवासियों के अतिरिक्त विदेशियों का ध्यान भी आकृष्ट करती रही हैं। यहाँ के गुहाचित्र प्रागैतिहासिक संस्कृति के जीते-जागते प्रमाण हैं, जिनकी ओर काकवर्न जैसे विद्वानों का ध्यान भी आकृष्ट हुए बिना नहीं रहा।

मारकुंडी घाट को दक्षिणांचल का गिरिद्वार तो कहा ही जाता है, यह कैमूर का भी द्वार है। इस क्षेत्र में आनेवाला, हर यात्री इसकी असीम प्राकृतिक शोभा देखकर न जानें क्यों क्षणमात्र के लिए सही, आनन्द-विभोर हो उठता है। बस हो या ट्रक जीप हो या कार––इसके जलेबिया मोड़ पर आते-जाते रुक जाती है। रुकी नहीं तो धीमी हो जाती है इस असीम शोभा को आत्मसात करने के लिए।

उर्वरा धरती वंचित आदिवासी

यहाँ की धरती इतनी उर्वर है कि इससे राष्ट्रीय आय बहुत प्राप्त होती है, लेकिन यहाँ का भूखा-नंगा आदिवासी पेट थामकर, करवटें बदलकर एक-एक रात काटता हुआ पूरा जीवन गुजार देता है। वह बंधुआ मजदूरी करने के लिए बाध्य है। यहां के बड़े-बड़े उद्योग उसे कोई काम नहीं देते। ओबरा के एक आदिवासी ने कहा था: 'ई फिक्टरी बाबू हमनी के छाती पर आग उगलत बाई हमनी के का देयी, ई त हमनी क जगह-जमीन सब लेले लेस।"

कैमूर की पहाड़ी, कभी इन आदिवासियों का शिकारगाह थी। कभी इस जलेबिया मोड़ पर शेर-चीते-भालू मिलते थे। अब बिजली के बल्ब आकाश के तारों से होड़ लेते दिखलाई पड़ते हैं।

यहाँ गुरमा शिविर हैं। यहाँ बन्दी काम करते, पैसा कमाते और मुक्त विहार करते हैं। यहाँ से ट्राली द्वारा लाइमस्टोन चुर्क भेजा जाता है, जहाँ सीमेंट बनता है। बिजली के बल्ब गुरमा से चुर्क तक प्रकाश फैला रहे हैं, लेकिन उसकी एक भी किरण किसी आदिवासी की मड़ई में आज तक नहीं फैली। जब-जब इन्हें विस्थापित किया

जाता है, इन्हें मुफ्त बिजली का आश्वासन देकर और नेताओं की जेबें भर कर उनकी जुबान पर ताला लगा दिया जाता है।

यहां से सोन पंप नहर निकल रही है, कहते हैं, इस क्षेत्र को आबाद करेगी। रापटगंज को तीन मंजिला पर पानी देगी। लेकिन यहां का सामान्य जन तब भी प्यासा था, अब भी प्यासा है और आगे भी प्यासा ही रहेगा। यही वह क्षेत्र है, जहां के लोग नारा देते हैं: 'खून मांगो मिलेगा, पानी नहीं।'

गाड़ियों का तांता लगा हुआ है। रात-दिन लगा रहता है। किसी में बीना का कोयला भरा होता है तो किसी में हिंडालको का अल्युमिनियम, लकड़ो, पत्ता और बगई घास तक यहां का बिक जाता है, आदिवासी कहते हैं, 'यह सब मेरी जायदाद थी, हम यहां के राजा थे। बाप-दादा ने शुद्ध घी का हलवा खाया था, विश्वास न हो तो मेरा हाथ सूंघ लीजिए।

हम धीरे-धीरे मारकुंडी घाट से नीचे उतरने लगते हैं, आदिवासियों की बस्ती की ओर। कौन जाने ठगों-बदमाशों का गिरोह हो। बस्ती के लोग आशंका से घूरने लगते हैं हमें। कुछ बाहर निकल आते हैं और कुछ घर में घुस जाते हैं। अब वे हर शहरी या सभ्य लगनेवाले आदमी को शंका और डर से भरी दृष्टि से देखते हैं, इसलिए कि हर सभ्य ने इनके साथ छल किया है, इनके सामने की थाली छीनी है, इनकी इज्जत लूटी है।

हम उन्हें अपनी सज्जनता का परिचय देते हैं। प्यास लगी है, पानी मांगते हैं। एक बुढ़िया अल्युमिनियम के लोटे में पानी लाती हुई कहती है: 'नइखे कुछ खाये के बाबू। हम बैठकर अंजुली से पानी पीने लगते हैं। झोपड़ी के भीतर एक दृष्टि अपने आप दौड़ जाती है। याद आती है, प्रसाद की 'ममता'। उसने किसी हुमायूं को पानी पिलाया था तो हुमायूं ने उसके नाम का स्मारक बनवा दिया था। लेकिन आज·····।

बुढ़िया के घर में मिट्टी के दो पात्र, बांस की एक डलिया, अल्युमिनियम का लोटा-कटोरा और न जाने किस जन्म की अल्युमिनियम की ही बटुई जिसमें वह खिचड़ी पकाती होगी, पड़ी है। लकड़ी की एक ही चारपाई है जिस पर वह सोती है। यह पूछने पर कि तुम क्या करती हो, वह संक्षिप्त उत्तर देती है: 'कुटौनी-पिसौनी।'

'लड़िका-परानी नहीं हैं क्या?'

'नहीं, सब जवानी में ही चले गये'।

यही हाल है यहाँ के आदिवासियों का। तन पर किसी के वस्त्र नहीं है कायदे का। न घर है, न द्वार है, और न जगह-जमीन है। एक जांगर है, जिसे वह पीट कर पेट पालता है।

इसी घाटी की माटी में सोना उगता है, जिसे बाहरी लोग भोगते हैं। जीवन की विसंगतियां भोगते हैं यहां के जन। गुरमा में बिहार-मध्यप्रदेश के आदिवासी आकर काम करते हैं और उनका इतना शोषण होता है कि वे थोड़े ही दिनों में बेकाम हो जाते हैं। वे यहां पत्थर तोड़ते हैं—स्त्री-बच्चों सहित। मजदूरी के नाम पर 2·50 रुपये मिलते हैं। शेष ठीकेदारों की जेबों में चला जाता है—दवा-दारू, आवास के नाम पर। दक्षिणांचल के सभी उद्योगों में हर जगह आदिवासी हैं, किंतु विस्थापित, शोषित, प्रताड़ित।

कैमूर घाटी का यह विस्तार, इसका पावस-सौंदर्य, इसके गर्भ में छिपी अनेक राशियां, प्राचीन संस्कृतियां आधुनिक समाज को सब कुछ देकर भी गरीब आदिवासियों को कुछ भी न दे सकीं। क्यों ? इस क्यों का क्या कोई उत्तर है ?

•

विस्थापित आदिवासी और बंधुआ जीवन

एक बार बीना कोयला परियोजना के एक आदिवासी ने रुंधे कंठ से कहा था "बाबू ई पोरजेट हमहन के सीना पर बनत बा, हमहन के धरती में गाड़ के। रेहण्डम (रिहन्द बांध परियोजना) बनइ लगल त हमहन के उजड़इ के पड़ल, अब बीना बनत बा त ऊहउं से उजड़इ के परत बा। हमहन त बिलेला होइ गयल हई।"

कितनी करुणापूर्ण और हृदयविदारक आवाज थी यह। इस दक्षिणांचल में बीना और रिहन्द के अतिरिक्त डाला में सीमेंट फैक्ट्री, अनपरा, बीजपुर, ओबरा में थरमल पावर हाउस, रेणुकूट में हिंदुस्तान अल्युमिनियम कारपोरेशन, कानोरिया केमिकल्स तथा रेणुसागर में बिड़ला बन्धुओं का थरमल पावर हाउस आदि बन चुके हैं और उनसे लगभग 10 करोड़ रुपये की शुद्ध वार्षिक आय भी सरकार को हो रही है, किंतु यह सारा निर्माण गरीब आदिवासियों के शोषण का परिणाम है।

निर्माण के पूर्व अनेक आश्वासन भी दिये जाते रहे और पर्याप्त मुआवजा देकर उन्हें अलग बसाने की बात भी कही जाती रही, संसद-विधान भवन में भी होहल्ले मचाये जाते रहे, किंतु वे सब बेमतलब थे, मात्र भुलावे के लिए थे और वे फाइलों तक ही रह गये। लगभग 10 हजार आदिवासी अब भी बेघरबार हैं। इन आदिवासियों को उजाड़ने के बाद जो धनराशि मुआवजे के रूप में मिली, वह भी आदिवासियों तक नहीं पहुँची। सरकारी कर्मचारियों ने हस्ताक्षर बनवा कर पैसे अपने जेब में रख लिये या कुछ दिये भी तो नंगे-भूखे आदिवासियों ने अपनी क्षुधा-तृप्ति के लिये ही अपर्याप्त समझा, मकान बनवाने के लिए पैसे न बचे। कुछेक ने प्रयास करके बन-

वाना भी चाहा तो जमीन न मिली। क्योंकि सामन्ती व्यवस्था यहाँ शताब्दियों से कायम है।

कभी आदिवासी ही यहाँ के राजा थे और सारी जमीन उनके अधिकृत थी, किंतु वह जमीन ठग कर या धोखा देकर उनसे ले ली गयी।

चोपन बाजार में रामरतन माझी और सहदेव माझी की काफी जमीन थी जिसमें अब बाहर से आने वाले व्यापारी रह रहे हैं। आदिवासियों ने बताया कि इन व्यापारियों ने थोड़ा अनाज या पैसा देकर 10 पैसे के टिकट पर हस्ताक्षर बनवा लिया था, उस पर बाद में जमीन लिखवा लिया अब वे उस जमीन को न तो छोड़ रहे हैं और न उसको उचित मूल्य ही अदा कर रहे हैं। इसकी उन आदिवासियों पर भयंकर प्रतिक्रिया है तथा वे संघर्ष के लिए भी तैयार हैं। सहदेव माझी ने बताया कि इस समय लगभग 10 हजार बीघा भूमि पर गलत लोगों के कब्जे हैं। वर्ग ४ की इस जमीन पर थोड़े से सामन्तों, सेठों तथा भूमिपतियों का कब्जा है। हजार-हजार बीघे भूमि इन्होंने हथिया लिये हैं। यदि यही जमीन विस्थापित आदिवासियों में बांट दी जाय तो बेघरबार आदिवासियों की समस्या हल हो सकती है।

आदिवासी एकान्त का जंगली जीवन व्यतीत करने में सुख का अनुभव करता है। लकड़ी, महुआ, पत्ता, बगई, लाही, चिरौजी आदि उसकी आजीविका के साधन थे पर वे भी छीन लिये गये। वन विभाग का तो इन पर रोक है ही, शिकार पर भी रोक है और जब कोई आदिवासी पकड़ लिया जाता है तो उसे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। इस तरह उस पर "इत्त के भये न उत्त के" वाली कहावत पूरी तरह चरितार्थ हो रही है। जमीन है नहीं कि वह खेती करें, पैसे हैं नहीं कि व्यापार करें, पढ़े लिखे हैं नहीं कि रोजगार मिले। बस सहारा मात्र बंधुआ मजदूरी का है और वह वही कर रहा है। इस क्षेत्र में अब भी बंधुआ मजदूरी करनेवालों का प्रतिशत 80 के आस-पास है। आदिवासी नेता श्री चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने बताया कि यहाँ के उद्योगों में बाहर के मजदूर बुला कर रखे जाते हैं और इन विस्थापित नंगे–भूखे आदिवासियों को नहीं रखा जाता। इन उद्योगों में लगभग एक लाख मजदूर कार्यरत हैं किंतु यहाँ के मजदूरों का प्रतिशत शायद 10 भी नहीं है। इसके लिए शासन को कितनी ही बार लिखा गया, किंतु कुछ भी परिणाम न निकला।

श्री सूबेदार प्रसाद (भूतपूर्व राज्यमंत्री) शिव संपति राम तथा (भू० पू० संसद सदस्य) रामप्यारे पनिका (सांसद) सभी भूतपूर्व हरिजन आदिवासी हैं तथा इसी क्षेत्र के रहने वाले हैं तथापि वे कुछ कर नहीं पा रहे हैं। श्री सूबेदार प्रसाद ने आश्वासन भर दिया था कि यहाँ के विस्थापित आदिवासियों को आवास के लिए जमीन दी जायगी और इन उद्योगों में उन्हें काम भी दिया जायगा किंतु अभी तक तो कुछ हुआ नहीं।

इस क्षेत्र में कोल, खरवार, वैगा वैसवार, मांझी, दुसाध, डोम, बंसफोर, चेरो कंजर, गोंड़, मुसहर, धांगर, मझवार, कोरवा, वनमानुष, बंसोर, आदि वन्य जातियाँ शताब्दियों से रह रही हैं। रिहन्द बांध के निर्माण के पूर्व अगोरी और सिंगरौली के आदिवासी राजाओं की संपन्न शासन व्यवस्था थी जिसमें इन्हें वनस्पतियों के उपयोग का पूरा अधिकार प्राप्त था। किंतु जब रिहन्द बांध के निर्माण से लगभग एक लाख आदिवासियों के गाँव डूब गये थे; बाढ़ में कितने बह गये थे और बड़े पैमाने पर आदिवासी युवतियों का अपहरण भी किया गया था, तब भी कांग्रेस सरकार के कानों में भी जूं नहीं रेंगी थी और बीना के निर्माण में कोयले के ऊपर बसे आदिवासियों को भी बेसहारा होना पड़ा, तब भी जनता सरकार कानों में उंगली डाले रही। इन "त्राहिमां-त्राहिमां" करते आदिवासियों की आवाज भी दिल्ली—लखनऊ में बज रही पायलों की झनकार के सामने तूती की आवाज ही प्रतीत होती रही। अपनी इस व्यथा को आदिवासी अपने गीतों में व्यक्त करके चैन की साँस लेता है :—

"आइल बा हम पर विपतिया हो ना
भागि चल वन अउ पहड़वा हो ना।
टांगे तीर-धनुहीं कोनउवां में बाबू
नाहीं मिली खाये के शिकरवा हो ना।
बिजुली रोशनियाँ नाहिं भावे हो ना
भागि चल वने अउ पहड़वा हो ना।"

रठोर पूरा गाँव उजाड़ में है। कुल 125 घरों की बस्ती थी। बचई, बिन्द्रा भोला, सुभग से बात हुई तो उन्होंने कहा—"रिहन्द बनने लगा तो हमने अपना मकान बांसी में आकर बना लिया; वही विपत्ति यहाँ भी आ गयी और बांसी में कोयला मिला। हम निकल जायेंगे तो कोयला निकलेगा।

प्रमुख आदिवासी जातियां : संक्षिप्त परिचय

खरवार

कोल, कोरवा, धांगर, वैगा, वैसवार, पनिका, परहिया, पठारी, बादी, बिन, बियार आदि पूर्वांचल उत्तर प्रदेश की मुख्य जन-जातियाँ हैं जिनमें खरवार सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। खरवार आरम्भ में एक शिकारी जनजाति थी। ये तीक्ष्ण वार कर शेर, चीते, भालू; सूअर तक को मार गिराते थे। इनके तीर-कमान में इतनी शक्ति थी कि इनका कोई मुकाबला नहीं कर सकता था।

कुछ विद्वानों के अनुसार खरवार कत्थे का व्यापार करते थे। वैसे इस बात के भी प्रमाण मिले हैं कि खरवार पहले शासक थे। इनका राज्य-विस्तार सुदूर तक फैला हुआ था। बिहार के पलामू जिले में ये 'अठारह हजारी' के नाम से जाने जाते थे। यानी उस एक स्थान पर ही इनकी संख्या 18 हजार थी। ये संथाल परगने के विभिन्न भागों में भी अपना अधिकार जमाये हुए थे। सोनघाटी इनके रहने की जगह थी। आज भी मध्य प्रदेश से उत्तर प्रदेश होते हुए बिहार तक सोन की तराई में ये अधिक संख्या में बसे हुए हैं। देश के अन्य भागों में भी इनके परिवार रह रहे हैं। ये आरम्भ में आखेटजीवी थे, बाद में कुछ खेतीबारी भी करने लगे। कत्था, लाही, नील, चिरौंजी तथा वनों पर आधारित अन्य उद्योग-धन्धे तथा कृषि इनका कालान्तर में मुख्य व्यवसाय बन गया और ये धीरे-धीरे काफी सम्पन्न भी हो गये। मिर्जापुर के अगोरी दुर्ग पर इनका कब्जा था। ये सिगरौली स्टेट के भी राजा थे। विजयगढ़ के ढोसरा, मझुई, रामपुर, पलपल नरवासोती, केवटम, खोढ़इला, बड़इला, पल्हारी, सथारी, सोमा, चिचिली, पनौरा, सुअरसोत, दुवारी बैजनाथे, काशी, कजियारी, सरईगाढ़, आदि 48 मौजा तथा दुद्धी-अगोरी के रेड़िया, सलखन, कनच, खरहरा, चौरा-विजौरा, गोठानी, महलपुर, घटिहटा, गायघाट, चतरवार, कुरुछ, तेलगुड़वा, परासपानी, खेरटिया, बंदिया, डाला, सिन्दुरिया, बरगवां, गुड़मुड़ा, जोंगइल, दरदी, कोटा, कोन, आदि मौजा के ये ही मालिक थे। आज जी उन्हें वहाँ आदरसूचक 'गौंहा' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। अलियार-बलियार नाम के खरवारवंशी राजाओं का नाम आज भी बड़े सम्मान में लिया जाता है।

समृद्धि भी : पतन भी

मिर्जापुर गजेटियर के अनुसार 11 वीं तथा 12 वीं शताब्दी में खरवार अपने पूर्व वैभव को प्राप्त हो कर क्रमशः पतनोन्मुख हो गये। 'रजत जयन्ती भूषण' के अनुसार मिर्जापुर के दक्षिणी भू-भाग में चंदेल राजाओं का आक्रमण 1203 ई० के बाद हुआ। ये लोग तत्कालीन राजा मदनशाह को युद्ध में परास्त कर इस क्षेत्र के राजा बन गये तथा साथ ही अगोरी तथा विजयगढ़ किलों पर अधिकार कर लिया। पर बाद में रीवां के राजा की सहायता से खरवार राजा शामशाह (जो मदनशाह का पौत्र था) ने पुनः इस राज्य पर चढ़ाई करके तत्कालीन चन्देल राजा संसारशाह को पराजित कर दिया। इस उथल-पुथल के बीच उनकी दशा दिन-प्रति-दिन बिगड़ती गयी और वे वन तथा पहाड़ियों में जाकर रहने लगे और कबीलाई जीवन के लिए बाध्य हो गये। बड़े-बूढ़ों का कहना है कि उनके वंशज अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही घने जंगलों, खोह-कन्दराओं तथा नदियों की तलहटियों में उतर आये थे। वे इतने शक्तिशाली थे कि मौर्यकालीन-राजे-महराजे भी उनकी तेजस्विता, शक्ति-सम्पन्नता, अद्भुत युद्ध कुशलता तथा अद्वितीय संगठन-शक्ति से दहलते थे।

खरवार अब शहरी क्षेत्र में भी रहने लगे हैं। सेन्सस रिपोर्ट 1951 के अनुसार एक राज्य से अधिक पूर्वी भारत में इनकी कुल जनसंख्या 96,616 थी। 1941 की रिपोर्ट के अनुसार बिहार में इनकी संख्या 77,589 थी। इसी प्रकार बंगाल उड़ीसा, बम्बई आदि प्रदेशों में भी इनका विस्तार हुआ है। किन्तु जहां एक ओर इनकी सीमा का विस्तार हुआ है, वहीं दूसरी ओर इनकी संगठन-शक्ति क्षीण हुई है। इनका परिवार गरीबी और अशिक्षा के कारण बंटता गया है। सदियों से शोषित रहने के कारण खरवार मजदूरी और हलवाही-चरवाही पर उतर-आये हैं। इनकी जमीन चली गयी और ये भूमिहीन हो गये। जंगल की जिस जमीन पर ये झोपड़ियां बनाकर रहते थे वह भी उद्योगधन्धों की स्थापन के लिए चली गयी और ये विस्थापित होकर दर-दर की ठोकरें खाने लगे।

उल्लेखनीय विशेषताएं

खरवार जनजाति की अपनी कुछ अलग विशेषताएं हैं। यह एक वीर तथा लड़ाकू जाति है। अपने आन-मान-सम्मान के लिए मर मिटने वाली जनजाति इनके समान कोई दूसरी नहीं है। सत्य-भाषण करना और सत्य ही के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर देना खरवारों का एक असाधारण गुण है। अनुशासन तथा ईमानदारी के साथ-साथ इनमें बड़ी एकता है। ये शरीर से खूंखार तथा बलिष्ठ होते हैं। इनकी स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह हिम्मती होती हैं।

खरवार प्रायः ठेहुन तक धोती, बंडी, सिर पर पगड़ी पहनते हैं। स्त्रियां साड़ी पहनती हैं। ये अपने हाथ के बनाये कच्चे मिट्टी या फूस के मकान में रहते हैं। ये शाकाहारी और मांसाहारी दोनों होते हैं। हैकल, बाजू, हंसुली बेरवा, कड़ा, नथिया, गुरिया या मूंगा की माला आदि आभूषण स्त्रियां पहनती हैं। गोदना से शौक करती हैं। टोना करने में बड़ी दक्ष होती हैं। खरवार लोग बघउत, बनसत्ती, दुल्हादेव, घमसान, गोरइया, शिव, दुर्गा, हनुमान आदि देवी-देवताओं के अतिरिक्त वृक्षों में सेमल, पीपल, नीम तथा जन्तुओं में नाग, बिच्छू आदि की पूजा करते हैं। खरवार जीवितपुत्रिका (जिउतिया) अनन्तचतुर्दशी, होली, नवरात्र आदि पर्वों पर नाचते-गाते तथा 'करमा' का आयोजन करते हैं। ऐसे अवसरों पर या वैसे भी मदिरापान करते हैं किन्तु युवक-युवतियों में अब यह प्रवृत्ति कम देखी जाती है।

खरवारों की उपजातियां

अन्य जनजातियों की तरह खरवारों में भी सूरजवंशी, दौलतवंदी, पटवंदी, खेरो, भोगती या गोंजू, मझिया, देशावरी, राउत, मझियाली आदि उपजातियाँ हैं। जातियों का यह विभाजन देश, स्थान के आधार पर किया गया है। विभिन्न अंचलों में रहने वाले खरवारों के रहन-सहन, खान-पान, पहनावा आदि में थोड़ा अन्तर

देखा जाता है। भाषा पर स्थानीयप्रभाव परिलक्षित होता है। ये अनुनासिक ध्वनियों का प्रयोग अधिक करते हैं तथा किसी शब्द का उच्चारण खींचकर करते हैं। 'रे', 'तोर', 'मोर', 'केकर', 'ओकर' आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। इनकी वाणी में कर्कशता अधिक देखी जाती है।

वर्तमान दशा

खरवारों की वर्तमान दशा बेहतर नहीं है। इनमें शिक्षा का सर्वथा अभाव है। ये इतने गरीब हैं कि बच्चों को विद्यालयों में भेज ही नहीं पाते हैं। बच्चे भी गाय-बैल चराने, बीड़ी-पत्ता तोड़ने, लकड़ी काटने का काम करते हैं। इनके सामने समस्या रहती है कि यदि ये पढ़ने चले जायेंगे तो उन्हें कमाकर कौन खिलायेगा। इनके लिए आश्रम पद्धति विद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए ताकि विद्यार्थियों को भोजन, वस्त्र आश्रय भी प्राप्त हो सके।

पहले ये जंगल पर आश्रित थे पर अब वह सहारा भी जाता रहा। अब ये जंगल से दातून, पत्ता, लकड़ी तक नहीं काट पाते। इनके पास न तो खेती के लिए जमीन है और न उद्योग-धन्धे के लिए पैसा। इनके सामने बेरोजगारी की समस्या है। अकाल-दुकाल में ये घर छोड़कर मैदानी भाग में भिक्षाटन के लिए निकलने पर मजबूर हो जाते हैं। कभी-कभी तो ऋण-ग्रस्त होकर बंधुआ जीवन के लिऐ बाध्य हो जाते हैं। इनमें प्रतिनिधित्व का अभाव है। इनकी प्रगति के लिए सरकार प्रयत्नशील है।

गोंड

भारत के विभिन्न अंचलों में लाखों करोड़ों की संख्या में आदिवासी जातियां निवास करती हैं। ए० एम० वरबेन के शब्दों में 'ये असभ्य जातियां उतनी प्राचीन हैं जितनी सभ्य जातियां, इन्हें हम आदिम जाति के नाम से पुकारते हैं। (एकेडेमी 20 जुलाई 1818) वेरियर एल्विनने इन्हें 'भूमिजन' के नाम से सम्बोधित किया है और कहा है कि भारत के ये भूमिजन अपनी प्राचीनता, सामाजिक संघटन, धार्मिक विश्वास और परिश्रमशील जीवन यापन के लिए सदा से ख्यात रहे हैं। आज भी इनमें जीवन की मादकता छलकती दिखाई पड़ती है।' (भारत के आदिवासी: ब्रह्मदत्त दीक्षित)।

वास्तव में इन जातियों के अध्ययनका सांस्कृतिक महत्व भी कम नहीं है। मैक्समूलर ने तो यहां तक लिखा है कि 'यदि आज का सभ्य कहा जाने वाला मानव अपनी सभ्यता की खोज करना चाहता है तो असभ्य जातियों का अध्ययन करना

चाहिए। क्योंकि आज की सभ्यता तत्कालीन सभ्यता की देन है। ये न हुए होते तो आज हम सभ्य न हुए होते।' (पिक्चर्स आनदी ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रेलिजन)

गोंड जनजाति विन्ध्याचल के आस पास तथा भारत के मध्य निवास करती है। यह जाति इन भागों में शदियों से रह रही है।

इन भागों में रहने वाली आदिवासी जातियों की दो शाखाएं हैं 1. कोलारियन तथा 2. द्रविड़। गोंड द्रविड़ शाखा की जाति है।

गोंड जाति की प्राचीनता

गोडवाना प्रान्त का नामकरण गोंड जाति की प्रधानता के कारण किया गया था। 16 वीं तथा 18 वीं शताब्दी में यह जाति अपने पूर्ण समृद्धि को प्राप्त कर चुकी थी। ये उस समय के राजा थे तथा इनका राज्य-बिस्तार अधिक था। भोपाल, सागीर, दमोह, होशंगाबाद, जलालपुर, नरसिंहपुर, भांडला, चांदा तथा देवगढ़ आदि स्थानों पर इनके शासक रहते थे। इनके शासकों में 48 वें राजा संग्राम सिंह का नाम आता है। मराठों तथा मुसलमानों ने इन्हें पराजित किया और तब इन्हें पुनः जंगलों की शरण लेनी पड़ी। सोन नदी के आस पास आज भी इनकी घनी बस्तियां हैं किन्तु आज इनकी दशा काफी बिगड़ चुकी है।

गोंड जातिकी उपजातियां

ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में वहां दो उपजातियां थीं—राज गोंड तथा धुर गोंड। कुल 12 शाखाएं हो गयी हैं—राजागोंड, ददेव, कललिया, पादल, धोली, ओभूपाल, इलामुतुले, कोहकोपाल, कालाप, मुदिपाल। गोडों में 'परधान' या 'प्रधान' उच्चवंशी माने जाते हैं। 'मारा' या 'मरिया' नामक भी एक उपशाखा है जो काफी पिछड़ी मानी जाती है।

पहनावा

गोंड एक विपन्न जाति है जो नदियों की घांटियों में रहती है। इन्हें पहनने के लिए वस्त्र तक नहीं मिलता। पहले ये नंगे रहते थे, किन्तु इधर अब लंगोटी लगाये रहते हैं। कुछ आज भी पत्तों और छालों से अपना तन ढंकते हैं। इनकी स्त्रियां एक वस्त्र पर अपना जीवन बिताती हैं तथा बच्चे प्रायः निर्वसन रहते हैं गंजी और कोपीन पर अपने दिन काटते हैं।

पर्व या उत्सव के समय ये अपना श्रृंगार करते है। ये मूंगे या जड़ी बूटियों की मालाएं अधिक पहनते हैं। कुछ तो माला ही को जनेऊ के रूप में पहनते हैं। ये मोर-पंखों का ताज भी पहनते हैं। स्त्रियां फूल पत्तों से अपना श्रृंगार करती हैं।

रहन-सहन

ये जीवन से ऊबे हुए किन्तु अपने मन के राजा होते हैं। इनके रहन-सहन का तौर-तरीका बहुत साधारण है। फूसकी झोपड़ियां बनाकर रहना, एक दूसरे के सुख-

दुःखमें सम्मिलित होना, शिकार खेलना, मछली मारना, यत्र-तत्र नदी-नाले-झरने के पास रहकर खेतीबारी कर लेना इनका काम है। इनकी झोपड़ियों में अल्युमिनियम के और मिट्टी के दो चार वर्तन बांस की विनी चारपाई, पुवालका बिस्तर तथा कुछ अन्य गृहस्थी के सामान कुल्हाड़ी, तीर कमान आदि होते हैं। ये बस्ती बनाकर रहते तथा आपस में संगटन रखते हैं।

इनके छोटे-बड़े झगड़ोंका निपटारा डांट-फटकार लगाकर इनका मुखिया करता है। गांवका वृद्ध ही इनका पंच होता है, उसकी बातपर मर-मिटने को ये सदा तैयार रहते हैं। ये अंधविश्वासी भी बहुत होते हैं। भूतप्रेत तथा ओझाई में बहुत विश्वास करते हैं। ये डीह की पूजा करते तथा बलि आदि में विश्वास करते हैं।

खानपान तथा उद्यम

ये मांसाहारी होते हैं। जंगली जानवरों का शिकार करना इनका मुख्य उद्यम है। प्रातः ही जंगल में चले जाते और दिन भर शिकार की तलाश में घूमते रहते हैं। जंगली जानवरों अथवा मछली आदि को मारकर और भून कर खा जाते हैं। कन्दमूल-फल भी इनका आहार है। साग-पात खाकर ये शरीर से स्वस्थ रहते हैं। अब यत्र-तत्र हलवाही चरवाही भी करने लगे हैं।

मिट्टी खोदना, लकड़ी काटना, टोकरी, बनाना, बीड़ी पत्ता तोड़ना, लाह निकालना, शहद निकालना, भेंड़ बकरी, मुर्गी पालना, वाद्य-यन्त्र मानर आदि बनाना, चिड़िया फंसाना, जड़ी-बूटियां निकालना इनके अन्य कार्य हैं। सांवा, कोदो, मक्का, बाजरा, महुआ, सरई, खाकर ये जीवित रह लेते हैं।

ये नशेबाज भी बहुत होते हैं। शराब तो पूरा का पूरा परिवार पीता है। गांजा, भांग, तम्बाकू, बीड़ी आदि भी ये खूब पीते हैं। नशे में पड़कर परिवार का परिवार तबाह हो जाता है।

उत्सव तथा मनोरंजन

प्रायः हर बस्ती में एक ऐसा गृह होता है जिसमें गांव के युवक और युवतियां एकत्र होती हैं वे रात में उसी गृह में सम्मिलित रूप से रहते तथा आमोद-प्रमोद करते हैं। व्यवस्था के लिए कुछ पदाधिकारी भी नियुक्त कर दिये जाते हैं। यह विशाल गृह होता है जिसके सामने एक आंगन भी होता है। उसी आंगन में नाच-गाना का आयोजन किया जाता है। हर युवक-युवती इस संस्था का सदस्य होता है। यह एक प्रकार का इनका 'क्लब' होता है। इसे बस्तर में 'गोतुलगृह' के नाम से पुकारा जाता है। इस गृह में युवक-युवतियां खुलकर अपना मनोरंजन करते हैं तथा माता-पिता उनसे अलग रहते हैं। आमोद-प्रमोद के बीच शराब भी चलती है तथा प्रेम सम्बन्ध होने पर विवाह हो जाता है। इस व्यवस्था से आपसी स्नेह और सद्भाव को स्थान मिलता है।

मनोरंजन तो ये नित्य ही करते हैं किन्तु विशेष अवसरों पर पर ये करमा आदि का उत्सव बड़े धूमधाम से मनाते हैं। होली, दीपावली भी मनाते हैं। हर उत्सव में ये शराब जरूर पीते हैं। स्त्री-पुरुष सब अपना शृंगार करते हैं। स्त्रियां अपने बालों को फूलों से सजाती हैं। पुरुष दाहिने हाथ में चांदी या गिलट का मोटा कड़ा पहनते हैं। गले में मूंगे की मालाएं सभी पहनते हैं।

करमा नृत्य का आयोजन ये बड़ी मस्ती में करते हैं। सभी अवस्था के लोग उसमें सम्मिलित होते तथा रात-रातभर करमा झूमझूमकर खेलते हैं। मनोरंजन के समय में अपना सारा दुःख भूल जाते हैं।

देवी-देवता

ये 'करमदेव' की पूजा में विश्वास करते हैं। करमा नृत्य करमदेव का ही पूजनोत्सव त्योहार है। करमदेव की पूजा का बड़ा लम्बा विधान है।

ये लोग अन्य देवी देवताओं को भी मानते हैं। शिकार को जाते समय ये 'मुसवासी' देवता की आराधना करते हैं। ये 'बढ़ावन' देव की पूजा अन्नराशि बढ़ाने के लिए करते हैं। देवियों में गौरी पार्वती की पूजा में विश्वास करते हैं। सेमल, पीपल आदि वृक्षों की भी पूजा करते हैं। गाय की पूजा भी ये श्रद्धाभक्ति से करते हैं।

इनके अलावा हिन्दुओं के प्रायः सभी देवी-देवताओं को भी मानते हैं। तीर्थाटन में विश्वास कम करते हैं। स्नान-पूजा आदि नित्य नैमित्तिक कार्य करना इनके लिए आवश्यक नहीं है। गरीबी एवं अशिक्षा के कारण ये गन्दा तथा मैला-कुचैला जीवन व्यतीत करते हैं। कट्टर जातिवादी होते हैं तथा छुआछूत की भावना को भी मानते हैं।

अन्य प्रथाएं

विवाह आदि की इनकी कुछ विचित्र प्रथाएं हैं। आमोद-प्रमोद के बीच ही विवाह तय हो जाता है, माता-पिता को इसके लिए परेशान नहीं होना पड़ता। विवाह भी बहुत कम खर्च में हो जाता है। बारात बधू पक्ष से सजकर वर पक्ष के घर जाती है। सगे-सम्बन्धी अधिक सहयोग करते हैं। अपने साथ कुछ खाने पीने का सामान भी लेते जाते हैं।

विवाह के अवसर पर नाचगाने का विस्तृत आयोजन किया जाता है। विवाहोपरान्त वर-वधू का एकान्त मिलन होता है। पर्दा प्रथा प्रायः नहीं के बराबर है। कहीं-कहीं अंगूठी के आदान प्रदान से भी विवाह हो जाता है। विवाह की अन्य भी कई प्रथाएं प्रचलित हैं। जैसे—युवती ही विवाह के लिए अपना पति ढूंढ़ती है और गांव के बड़े बूढ़ों के समक्ष फल फूल से अपने पति का पूजन करती है। एक अन्य प्रथा के अनुसार जब वर निर्धन होता है तो वह वधू के घर जाकर उसका गृह-कार्य करने लगता है तथा श्वसुर गृह को ही अपना परिवार बना लेता है।

इस रूप में कम से कम पांच वर्ष तक रहना अनिवार्य होता है—फिर पति-पत्नी अलग हो सकते हैं।

कहीं-कहीं गन्धर्व विवाह जैसी प्रथा भी प्रचलित है। वर जबरदस्ती कन्या को ले जाता तथा ब्याह कर लेता है।

अवैध विवाह भी होता है। इसमें विवाह के पूर्व ही वर कन्या से नाजायज सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। फिर कुछ डांट-फटकार लगाकर गांव के लोग इसी कन्या से उसका विवाह कर देते हैं।

कहीं-कहीं वैदिक विधि से भी विवाह की प्रथा प्रचलित है। पण्डित विवाह कराते हैं। वर-वधू मण्डप में एकत्र होते हैं तथा पाणिग्रहण संस्कार होता है।

कभी-कभी एक व्यक्ति एक से अधिक पत्नी भी रख लेता है। विधवा-विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। पति की मृत्यु के उपरान्त पत्नी अपने पति के छोटे भाई को अपना पति चुन सकती है।

रूढ़ियां

गोंड रूढ़िवादी अधिक होते हैं। अपनी पुरानी प्रथाओं को किसी प्रकार छोड़ नहीं पाते। सामाजिक नियमों तथा प्रथाओं का कट्टरता के साथ पालन करते हैं।

लोक-प्रथाओं में भी इनका अटूट विश्वास होता है। लोक मान्यताओं को शास्त्रीय मान्यताओं से अधिक महत्व देते हैं। वे भयंकर से भयंकर बीमारियों को झाड़-फूंक से दूर करना चाहते हैं। दक्षिण की ओर पैर करके नहीं सोते और भूतप्रेत को भी मानते हैं।

गोंड बहुत गरीब तथा अशिक्षित हैं। प्रगतिशील जीवन की लालसा इनमें नहीं के बराबर हैं। गरीबी का भी कारण मुख्यतः अशिक्षा ही है। इनके बच्चे होश संभालते ही रोटी-रोटी के चक्कर में पड़ जाते हैं। शिक्षालयों में भी इनके स्तर के अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था नहीं है। इनके स्तर में सुधार होना चाहिये। ये प्रायः भूमिहीन हैं। इन्हें खेती के लिए भूमि दी जानी चाहिये। उद्योगों में इन्हें नौकरी की सुविधाएं मिलनी चाहिये।

●

मुसहर

दुनिया बदल रही है, उसके साथ आदिवासी भी बदल रहा है। तब शकल-सूरत से आदिवासी पहचान लिया जाता था, अब उसे पहचानना कठिन है। क्योंकि

कौड़ियों की मालाओं, लकड़ी की कंघियों, लंगोटियों की जगह अब वह आधुनिक वस्तुओं का उपयोग करने लगा है। अब वह शहरों या औद्योगिक प्रतिष्ठानों में नौकरी करता, फूस की बनी झोपड़ियों की जगह सुविधा सम्पन्न क्वार्टरों में रहता और करमा की जगह रेडियो के गाने सुनता है। पैंट-बुशर्ट पहनने में वह गर्व का अनुभव करता है, यह सब तो ठीक है, किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि मिटती हुई उस संस्कृति की रक्षा कैसे की जाय ?

आदिवासियों में एक जाति मुसहर है जो मूस या चूहा मारने-खाने का काम न जाने कब से करती आ रही है। मुसहर, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, मूस यानी चूहों को हरने-मारने वाली जाति विशेष। आज भी पिछड़े और सुदूर गाँवों में रहने वाले मुसहर प्रातः होते मूस मारने वाला औजार, लोहे के तीखे-चौड़े मुख वाला लकड़ी का छड़ लेकर सपरिवार बाहर निकल जाते हैं। जौ या गेहूं के खेत में या अन्य किसी स्थान पर जहाँ वे समझते हैं कि चूहे होंगे, चले जाते हैं। छिद्र में पानी भरने लगते हैं जिससे व्याकुल होकर चूहे बाहर निकलते और वे उन्हें मार डालते हैं। पानी के अभाव में वे छिद्र के पास से जमीन खोदना आरंभ करते हैं। संबरी से, जहाँ तक छिद्र होता है, खोदते चले जाते हैं और चूहों को मारकर ही दम लेते हैं। इस क्रिया से उन्हें दो फायदे होते हैं, पहला यह कि उनका सर्वप्रिय शिकार चूहे मिल जाते हैं और दूसरा यह कि चूहों का खजाना भी उन्हें प्राप्त हो जाता है। चूहे छिद्रों में धान, गेहूं, जौ, जोन्हरी आदि की बालियां एकत्र किये रहते हैं, वे उन्हें भी प्राप्त कर पानी में धोते-माजते और फिर उसे पकाकर चूहे के शिकार के साथ खाते हैं। वे चूहे को भूनकर नास्ता भी करते हैं।

मुसहरों का दूसरा वंश परंपरागत पेशा है, पालकी या बोझ ढोना। पहले दुल्हा-दुल्हन को लाने-ले जाने के लिए इन्हें ढूंढ़ा जाता था और इसके बदले में प्रति व्यक्ति की दर से दो सेर सीधा (चावल-दाल) दिया जाता था। ऊपर से मजदूरी के रूप में कुछ पैसे भी दिये जाते थे। अब चूहा मारने की दवाइयों और मोटर-गाड़ी के साधनों के कारण इनकी आजीविका के दोनों पुराने साधन समाप्त प्राय हैं। यही कारण है कि अब मुसहर गाँव छोड़कर शहरों की ओर भाग रहे हैं। वहाँ वे दोना-पत्तल बनाने, बेचने का काम करते हैं। जंगल से दातून तोड़कर लाते और बेचते हैं। हलवाही-चरवाही करते हैं। मिट्टी खोदने में इनका मुकाबला नहीं है, अतः औद्योगिक प्रतिष्ठानों में ठीकेदारों के अधीन काम करके सात-आठ रुपये रोज कमा लेते हैं।

मुसहर घुमन्तू और जरायम पेशा जाति रही है, इसीलिए यह किसी निश्चित स्थान पर मकान बनाकर नहीं रहती थी। अब आजादी के बाद से इनके रहन-सहन में काफी परिवर्तन हुआ है। इन्हें बसाने के लिए बस्तियां बनायी गयी हैं।

मुसहरों की भाषा में सांकेतिक ध्वनियों की अधिकता है। पालकी ढोते समय ये आपस में बातें करते जाते हैं और उसके लिए जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह भार वाहन में साधक होती है।

●

उरॉंव

आदिवासियों में उराव, चेरो, मांझी, घसिया, मुण्डा, धांगर, खरवार एक ही जाति में आते हैं। इनकी ये अलग-अलग कूरितां या उपजातियां हैं। किन्तु ये विवाह-सम्बन्ध अपनी ही कूरी में करते हैं। खान-पान का सम्बन्ध एक-दूसरे से होता है।

उरॉंव मध्य प्रदेश और बिहार में अधिक हैं। उत्तर प्रदेश में ये यत्र-तत्र ही पाये जाते हैं। मिठिनिया, बारीसूती (मिर्जापुर) गाँव के उरॉंवों से बातचीत के दौरान ज्ञात हुआ कि मिर्जापुर के धांगरों की दो उपजातियां हैं—(1) उरॉंव धांगर और (2) मूड़ा धांगर। उरॉंव धांगर और मूड़ा धांगर में शादी-सम्बन्ध नहीं होता।

उरॉंव मुख्य रूप से खेती-बारी करते हैं और अधिकतर मकई, सावाँ, जिन्होरी, मेंझरी आदि पैदा करते हैं। इनके यहाँ धान की खेती प्रायः कम होती है। परसा-करहीं के लालजीउ उरॉंव ने बताया कि "उरॉंवों के पास खेत बहुत कम हैं। पत्थर-पहार पर दो-चार बीघे जमीन मिली भी है तो उस पर उनका कब्जा नहीं है। गाँव के जमींदार ही उसे जोतते-बोते हैं। जिस जमीन पर उरॉंवों का कब्जा है भी, वह वर्ग-4 की है। हम तो बाप दादे से माटी ही कोड़ते हैं। माटी का चोला माटी में रहता है और फिर माटी में मिल जाता है।"

शिकार का शौक और खेती-बारी

उरॉंव पहले शिकारी होते थे और अपने तीर कमान से शेर-चीते तक को मार गिराते थे। अब खसी, मुर्गा, सूअर, हरिण का शिकार यदा-कदा करते हैं। अब शिकार का तौर-तरीका भी बदल गया है। पहले हांका कराया जाता था। यानी आदिवासी हा-हू करते जंगल में जाते थे। एक स्थान पर गड्ढा खोदा होता था। जानवर भागते-दौड़ते उस स्थान पर जाता जहाँ विस्फोटक गोला रखा होता था। वह या तो उसे खाकर मर जाता था या गड्ढे में गिर कर। फिर आदिवासी उसे उठा लाते और उसका शिकार बाँट कर खाते थे। अब जबसे जंगल पर सरकार का नियंत्रण हो गया और जंगली जानवरों को मारना अपराध घोषित कर दिया गया, तब से खेती-बारी या उद्योग-धंधा करके अपनी जीविका चलाते हैं। पढ़े-लिखे युवक

नौकरी करते हैं। कुछ लोग दुकान या व्यवसाय भी करने लगे हैं। इस प्रकार आजादी के बाद से इनके रहन सहन में भारी अन्तर आया है। तब यह केवल घुमन्तू जाति थी, अब बस्ती बनाकर रहती है। अच्छे कपड़े पहनती तथा अच्छे मकान में रहती है।

मिर्जापुर के कोन ब्लाक में एक गाँव कचरनरवा है। वहाँ भी उरॉव रहते हैं। उनमें से कुछ खेती-बाड़ी और कुछ मेहनत-मजदूरी करते हैं। उनके पास जमीन है पर उस पर दूसरे का नम्बर चढ़ा है। एक के पास छह बीघे जमीन बची है जिस पर खेती की जाती है। दो बैल अपने हैं।

यहाँ के कुछ परिवार अनपरा में जाकर काम कर रहे हैं। औसतन छह रूपये रोज कमा लेते हैं। एक बच्चे से पूछा कि तुम स्कूल क्यों नहीं जाते ? तो उसने तपाक से उत्तर दिया—"माई बाबू दर-दर घूमत बा, त हम उस्कूल कइसे जाइब, एक जगे थीर रहब तबे न जाईब।"

"तुम कभी स्कूल गये हो कि नहीं ?" "हम त नइखे गयल।" "जाना चाहते हो कि नहीं ?" "जाइब"।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें पढ़ने-लिखने की भावना है, किन्तु परिस्थितियां ही अनुकूल नहीं हैं। स्कूल भी खोले गये हैं। उनमें इन्हें शुल्क मुक्त होने तथा छात्रवृत्ति, पुस्तकीय सहायता, कहीं-कहीं भोजन, वस्त्र, आश्रय आदि की सुविधाएं भी उपलब्ध हैं, किन्तु एक स्थान पर स्थिर न रहने के कारण वे चाहते हुए भी अपने बच्चों को पढ़ा नहीं पा रहे हैं।

सांस्कृतिक परिवेश

उरॉव करमा खेलते हैं। करमा कर्मदेव की पूजा का गीत है जिसे स्त्री-पुरुष मांदल बजाकर समूह में नाचते तथा गाते हैं। यहाँ गीत का एक अंश प्रस्तुत है—

"नाग बसी नाग अवतारे
मलहिन रूप नाग बसी मलहिन फिनकारे
नाग भइया सूते नागिन पछिताये
नाग पर चीढ़ी-चांवर डोले
मलहिन रूप नाग बसी नाग फिनकारे।"

आदिवासियों में नाग देवता की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है। नाग पंचमी के अवसर पर ये नागपूजा के गीत गाते हैं तो नवरात्रि में देवी-पूजा के। इसी प्रकार अन्य पर्वों पर भी ये विविध प्रकार के गीत गाते हैं। हिन्दुओं के प्रायः सभी त्योहारों को मानते-मनाते हैं, किन्तु अपने ढंग से। ये ऐसे अवसरों पर मदिरा-पान भी करते हैं, किन्तु अब यह परम्परा धीरे-धीरे समाप्तप्राय है। जहाँ पहले स्त्री-बच्चे-बूढ़े सभी मिल-बैठकर दारू पीते थे, वहाँ अब ये संयमित जीवन जीने के अभ्यासी हो गये हैं। कुप्रथाओं और अंध-विश्वासों से भी दूर होते जा रहे हैं। भूत-प्रेत, टोना-

टोटका की जगह अब ये बीमार पड़ने पर वैद्य-डाक्टर की सहायता लेना अधिक उपयोगी समझते हैं।

उराँव भी गोरइया की पूजा गायों की रक्षा के लिए गोशाले में, बघउत की पूजा गाँव के किसी छोर में, गंवहेर की पूजा गाँव को आपदाओं से बचाने के लिए गाँव में तथा बनसत्ती की पूजा वन में करते हैं। ये गुरदह भांजते हैं। बलि चढ़ाते हैं।

विवाह के अवसर पर नाच-गाने का आयोजन करते हैं। वर, पालकी से विवाह करने जाता है तथा विवाहिता पत्नी को पालकी में बिठा कर स्वयं साथ-साथ पैदल आता है। ससुराल में घोड़ा मिलता है तो वह घोड़े पर चढ़कर आता है। परछन की प्रथा इनके यहाँ भी प्रचलित हैं। गांठ जोड़ा जाता है और वर-वधू दोनों दौरी में पॉव रखकर गृह-प्रवेश करते हैं। खान-पान विधिवत होता है। सत्तर वर्षीय वृद्ध जगेसर उराँव ने बताया कि "अब हमहन के दारू नीक नाहीं लागत। जवनकन राती के पढ़े जानऽसन त कहऽनऽ दारू बीख हऽबीख। हम बुढ़वन क अब लटकानी बा। हमहन कऽबीतल तइसन बीतल अब लड़िकन सुधरि जाइं त आहि मेटाइ जाई, अ मेटात बा।"

•

बिन

आदिवासियों में बिन या बिन्द एक विशिष्ट श्रमिक वर्ग में आते हैं। 'मीरजापुर गजेटियर' में इन्हें अनार्य जनजाति (नानआर्यन ट्राइब) कहा गया है। वैसे तो ये गोरखपुर, वाराणसी मण्डल के प्रायः सभी जिलों में पाये जाते हैं, किन्तु मीरजापुर जनपद के चुनार और राबर्ट्सगंज तहसीलों में इनकी संख्या अधिक है। ये प्रायः काले-कलूटे, नाटे कद के तथा पुष्ट शरीर के होते हैं। ये लम्बी चोटी रखते तथा घुटने तक धोती और बन्डी पहनते हैं।

बिन अपने को हिन्दू कहते तथा हिन्दुओं के सभी देवी-देवताओं, तीर्थों तथा पर्वो-त्योहारों को मानते-मनाते हैं। महादेव, गंगा, बैजनाथ, काशी बाबा की पूजा ये विशेष विधि-विधान से करते हैं। ये पितृ, ग्रामदेव, वनदेवी, पहाड़देव की पूजा भी करते हैं। पहले भूत-प्रेत, ओझाई-देवाई, टोना-टोटका में अधिक विश्वास करते थे, अब अन्ध-विश्वास से दूर होते जा रहे हैं। ये धरती को अपनी मां मानते, खोद-खाद करते समय प्रणाम करके ही फावड़ा उठाते हैं। ये धरती माता और देवी को मुर्गा, सुअर की बलि भी चढ़ाते हैं।

गजेटियर के अनुसार 1911 के आसपास इनकी मीरजापुर में कुल संख्या 9924 थी। जनसंख्या वृद्धि के साथ इनकी संख्या में भी उसी अनुपात में वृद्धि हुई होगी। प्रयास के बावजूद इन जातियों के अलग-अलग आंकड़े प्राप्त नहीं होते।

बिन जनजाति का जातीय पेशा मिट्टी खोदना, ढोना है। वे अब ईंटा पाथने, जांत-चकरी-पत्थर गढ़ने, मकान बनाने का काम भी करने लगे हैं। हलवाही-चरवाही तथा खेती-बाड़ी के अलावा औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने के कारण अब इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगा है। भूमिहीनों को कुछ जमीन भी मिली है। पुराने कर्ज तथा बंधुआ जीवन से इन्हें मुक्ति मिली है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण अब ये अपने बच्चों को स्कूल भेजने लगे हैं। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति का विकास भी इनमें हुआ है। यदि इन पर कहीं से कोई अन्याय-अत्याचार होता है, तो ये संगठित होकर उसका प्रतिकार करते हैं, पर आपसी झगड़ों का निपटारा स्वयं कर लेते हैं।

इनके विवाह में खर्च बहुत कम होता है। विवाह में दहेज की प्रथा नहीं है विधवा विवाह हो जाता है। पत्नी के मर जाने पर पति दूसरी पत्नी रख सकता है। बहु-पत्नी प्रथा भी इनमें प्रचलित है। पहले बाल-विवाह बहुत होता था, अब नहीं होता। तब भी बालिग होते-होते विवाह हो जाता है। विवाह के समय से जनेऊ पहनने की प्रथा भी इनमें चल पड़ी है। वैसे बिन पवित्र जाति मानी जाती है, जिसका छुआ पानी प्रायः हर जाति के लोग पीते हैं।

अधिकतर बिन मांसाहारी होते हैं। वे जाल या कटिया में फंसाकर मछली अधिक मारते हैं तथा उसे प्रायः भूनकर सांवा, कोदों या धान के चावल के साथ खाते हैं। इनके बच्चे गोटी-गुलेल से चिड़ियों का शिकार भी कर लाते हैं। महुआ, शाक, कन्द-मूल-फल भी इनका आहार है।

बिन अधिकतर फूस या खपरैल के मकान में रहते हैं। घड़े का पानी पीते हैं। मदिरा-पान की लत धीरे-धीरे छोड़ रहे हैं। तम्बाकू, बीड़ी, गांजा की लत भी धीरे-धीरे छूटती जा रही है। पहले स्त्रियां और बच्चे भी नशा का सेवन करते थे। अब पत्नियां अपने पतियों को नशा पीने-खाने से मना करती हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप इनकी आर्थिक स्थिति में भी सुधार होता जा रहा है।

बिन केवट की श्रेणी में आते हैं। चाई, बथना, गोड़िया, तियर इनकी अन्य कूरियां हैं, किन्तु एक कूरी की शादी दूसरी में नहीं होती। विवाह के अवसर पर जाति-बिरादरी को भोज-भात दिया जाना अनिवार्य होता है। उसी समय बिरादरी की बैठक भी होती है, जिसमें जातिच्युत व्यक्ति पर डांड़-फटक (जुर्माना) लगाया जाता है, जिसके पैसे से सार्वजनिक उपयोग की वस्तुएं जैसे, टाट, बर्तन आदि खरीदे जाते हैं। बिरादरी की बैठक में हुक्के का पहले बड़ा रिवाज था, पर अब नयी पीढ़ी

उसका विरोध करती है। विवाह के समय से स्त्रियां चूड़ी, हंसुली, पायल, सिन्दूर, टिकुली, पहुंची, टीका आदि आभूषण तथा लहंगा साड़ी, बन्डी आदि कपड़े पहनने लगी हैं। बाल-विवाह की प्रथा समाप्तप्राय है। विधवा विवाह हो जाता है। अनमेल विवाह होने पर पति या पत्नी, दोनों एक दूसरे को छोड़ तो सकते हैं, पर उनका सामाजिक बहिष्कार भी हो सकता है।

बिन-बियारों का भोजन विचित्र होता था। पहले वे महुआ और आटा की मोटी लिट्टी पकाते थे, जिसे पूरे परिवार के लोग खाते थे। वह इतनी मोटी होती थी कि कभी कभी दो किलो की भी हो जाती थी, किन्तु अब वे श्रम करके अच्छा भोजन करने लगे हैं। कोइना (महुआ का फल) की सब्जी, चकवड़, पताल कोहड़ा, नकई, सीठोंकंद, मुर्गी, शराब भी ये खूब खाते-पीते थे। तीर-कमान से मारकर या गड्ढे में गिराकर सुअर का शिकार भी करते थे, पर अब नहीं करते। यत्र-तत्र खेती-बाड़ी करने लगे हैं। कुछ नौकरी भी करते हैं।

बिनों का साहित्य बड़ा धनी है। उनके गीतों में उनकी संस्कृति एवं जीवन का सत्य अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ एक गीत प्रस्तुत है—

"केंवटा छोकरवा बड़ा वा हड़मुड़वा बूड़ि-बूड़ि ना—
दहवा मारइ ला मछरिया बूड़ि-बूड़ि ना।
अपने के मारइ केवटा सीधी रे सेउरिया गुरुजी के ना—
मारइ मंगर घड़ियलवा गुरुजी के ना।
किया गंगा माई तोहार ओहरऽला कररवा
किया हो पनियाँ तोहार भइनइ भोड़रवा
किया हो गंगा जी पनिया तोहरा ना।"

इस गीत में उनकी गंगा और गुरु के प्रति आस्था की झलक मिलती है, साथ ही श्रमशील बालक की कर्म के प्रति आसक्ति का परिचय भी मिल जाता है।

●

बियार

बियार एक पुरानी जनजाति है, जो अब हिन्दू हरिजनों में घुलमिल गयी है। 'मीरजापुर गजेटियर' के अनुसार पहले ये शुद्ध आदिवासी थे। सन् 1910 के आस-पास मीरजापुर में इनकी कुल संख्या 11695 थी जो अब बढ़कर लगभग ढाई गुनी हो गयी है। बियार जनपद के प्रायः सभी भागों में रहते हैं। पूर्वांचल के अन्य जनपदों में भी ये बिखरे पड़े हैं। मीरजापुर में चुनार और अहरौरा के आसपास इनकी संख्या अधिक है। इस जाति के लोग बिहार, मध्य प्रदेश में भी हैं।

बियार श्रमिक वर्ग में आते हैं तथा खेती, मजदूरी, हलवाही, चरवाही के अतिरिक्त लकड़ी काटने, बीड़ी-पत्ता तोड़ने, लाह-कत्था का काम करने में भी दक्ष माने जाते हैं। ये जंगल या पहाड़ के आसपास झोपड़ियां बनाकर रहते तथा काम के समय बाहर किसी बस्ती, बाजार या औद्योगिक क्षेत्रों में निकल जाते हैं। बाहर निकलते समय ये अपनी पूरी गृहस्थी भी साथ ले लेते हैं। स्त्रियां बच्चों को झोली में रखकर पीठ पर बांध लेती हैं। पुरुष पटेवा पर सामान ले लेता है। ये जहां काम करते हैं, बच्चों को वहीं किसी छायादार वृक्ष के नीचे या धूप में ही खेलता छोड़ काम में लग जाते हैं। ये कबीलों की तरह अपना आवास बदलते रहते हैं। 'जहां चारा वहीं मारा' वाली कहावत इन पर चरितार्थ होती है। आपातकाल में श्रीमती इन्दिरा-गांधी के 20-सूत्री कार्यक्रम के तहत इन्हें जहां बसने के लिए जमीनें दी गयी थीं, वहां ये बस गये हैं। अब स्वतन्त्र जीवन यापन करते हैं।

ये भी जाति-पांति का भेदभाव मानते तथा अपने से नीची जाति का भात नहीं खाते हैं। पाली के बैजनाथ बियार ने बताया कि बड़हर-विजयगढ़ से केरा-भुइली के बियार अलग हैं। सूअर पालने के कारण विजयगढ़-बड़हर के बियार उन्हें अपने से नीचा समझते तथा उनसे विवाह-सम्बन्ध नहीं करते अपितु जातिच्युत कर उनका भात, टाट और हुक्का बन्द कर देते हैं। कुछ बियारों का केवटों में विवाह हो जाता है। लेकिन बैजनाथ ने आगे बताया कि अब जाति-पांति, छुआ-छूत, नीच-ऊंच का भेदभाव बहुत कम रह गया है। सब बराबर हो गये हैं। सुअर पालने में लाभ है तो वही करेंगे।

इनका विवाह ब्राह्मण ही कराते हैं। वे बियारों का छुआ पानी पीते तथा चबैना चबाते हैं। कुछ बियार दाना भूजने का काम भी करते हैं।

बियार हिन्दुओं के देवी-देवताओं को तो मानते ही हैं। धरती-माता, दखिनहीं, सेंवरिया, राजालाखन, कालेदर, नकटा बाबा, बधउत, वनसत्ती की पूजा भी करते हैं। नवरात्र में गृहदेवता, ग्राम देवता की पूजा करने कीं परम्परा भी इनमें प्रचलित है। कभी-कभी सूअर या भेंड़ा की बलि भी ये चढ़ाते हैं। नीम की पूजा शीतला के रूप में नीम की डाल में छोटी चारपाई बांधकर करते हैं। ये सायर शीतला और केवटाही की पूजा नागपंचमी के अवसर पर करते हैं। इनके द्वारा पूजित सेंवरिया देवी गांव की दैवी आपदाओं से रक्षा करती है। ये सेमल, पीपल और बहेड़ की पूजा भूत-प्रेत, चुड़ैल की मान्यता के कारण करते हैं।

इनका हास्य अश्लील और अशिष्ट होता है। स्त्री-पुरुष दोनों नाचते-गाते और मस्त रहते हैं। इनका एक ओझाई गीत प्रस्तुत है––

"आने दिनवां कहइ देउ मोरे गाढ़े दिनवां जुझबइ,
मोर बरुवा संघवां ना।

देउ मोर पछवा देखावई हो गाढ़े दिनवां ना।
नकिया त देखल देउ मोर सुगना क ठोरवा,
अंखिया हो तोहरी ना।
तेखल अंखिया न जइसे अमवां फंकिया ना॥
बहियां तोहरी देखल जइसे चढ़लि बा कमनियाँ।
जंघिया तोहरी ना।
जइसे केदली क खम्हियां जंघियां तोहरी ना।"

"नव विवाहिता घर आयी है, उसे किसी ने टोना मार दिया है। ओझा देवता खेलाता है तो उसका देवता कहता है "तुम्हें घबड़ाने की जरूरत नहीं है। मेरा देव तुम्हारे बरुवा (पति) के संग जूझेगा और उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं होने देगा। भला तुम्हारे ऐसे पति का अनिष्ट कैसे होने देगा जिसकी नाक तोता के ठोर की तरह, आंखें आम की फांकी की तरह, बाहें कमानी व जांघें कदली खम्भ की तरह हैं।"

कितने सुन्दर उपमान हैं! कहा जा सकता है कि इन लोक रचनाकारों से ही अभिजात साहित्य में उपमानों को ग्रहण किया गया है। इस दृष्टि से बियारों का साहित्य काफी धनी है।

●

भुइयां

अनपरा-निर्माण का प्रथम चरण। हजारों की संख्या में आदिवासी मिट्टी खोदने का काम कर रहे हैं। किसी भी निर्माण में पहली आवश्यकता हराठिया मजदूरों की ही पड़ती है। यहाँ भी मध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा के आदिवासी पूरे परिवार के साथ काम पर लगे हुए हैं।

कार्य-व्यापार

मिट्टी के काम में भुइयाँ, कोल और धांगर बड़े पटु होते हैं। भुइयां का तो नामकरण ही इसी आधार पर हुआ है। 'भू' या 'भुइ' का अर्थ होता है जमीन। भुइयां का अर्थ हुआ जो जमीन से पैदा हो। जमीन से पैदा होने के कारण ये अपने को जमीन का आदमी समझते हैं और जमीन से संबंधित मिट्टी खोदने, उसे ढोने, उस पर खेती-बाड़ी करने का काम ही ये अधिक चाव से करते हैं।

अधिकतर भुइयां काले-कलूटे, नाटे कद के, किन्तु पुष्ट शरीर वाले होते हैं। इनके दोनों कंधों पर बोझ ढोने के कारण प्रायः घठ्ठे पड़ जाते हैं। इनका कहना है कि पहले जमीन के मालिक यही थे। आज जो यह बात उठायी जा रही है कि जोतने-बोने वाला ही जमीन का मालिक हो सकता है, कोई नयी नहीं है। पहले ऐसा ही

था। भूमि-जन ही भूमि का मालिक होता था। बीच में सामन्ती-व्यवस्था तथा विदेशी आक्रमणों के कारण पुरानी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी और भूमि का जो असली मालिक था, भूमि-हीन हो गया। यहां खरवार जातियों का यह कहना ठीक प्रतीत होता है कि वे ही यहां के जमींदार थे। उन्होंने अपनी सुविधा और जमीन की देख-रेख के लिए बाहर के कुछ ऐसे व्यक्तियों को बुलाया, उन्हें नौकरी दी, जो शरीर से शक्तिशाली तथा पढ़े-लिखे, बुद्धिमान भी थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अपनी बुद्धि और शक्ति के बल पर स्वयं मालिक बन बैठे और आदिवासियों को बेघरबार कर दिया। भुइयां जाति के बारे में भी यही बात लागू होती है।

भुइयां अब प्रायः घुमन्तू जाति हो गयी है। "जहां चारा वहीं मारा" वाली कहावत इन पर चरितार्थ होती है। जहां काम मिलता है, वहीं ये झुग्गियां बना लेते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से इनकी दशा में थोड़ा सुधार हुआ है। कुछ परिवारों को बसने के लिए जमीनें दी गयी हैं। अतः वे फूस या खपरैल का मकान बनाकर स्थायी रूप से कुछ कारोबार भी करने लगे हैं। जहां साग-पात, कन्द-मूल, सावां-कोदो, मकई, महुआ, मिझरी, कइतका, कुरती ही पर उनके पूरे परिवार का जीवन आश्रित रहता था, वहीं अब ये दिन भर मजदूरी भी करते हैं तो दस-बारह रुपये पैदा कर लेते हैं। स्त्री-बच्चे सभी कमाते हैं। अतः जहां नंग-धड़ंग रहते थे वहीं ये अच्छे सामान्य कपड़े भी पहनने लगे हैं। दिन भर के थके-मारे जब ये अपनी कुटिया ये पहुँचते हैं तो सुस्वादु भोजन बनाकर खाते हैं। गाते भी हैं। इन्हे राजनीतिक उथल पुथल, देश-दुनिया के झंझटों से क्या लेना-देना?

सांस्कृतिक परिवेश

इनके साँस्कृतिक सामाजिक उन्नयन के लिए कई योजनाएं बनायी गयीं और तमाम सुविधाएं प्रदान की जा रही हैं। यह बात अलग है कि वे उनका पूरी तरह लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। इसका मुख्य कारण है हीन भावना तथा अन्य जातियों की इनके शोषण की दुष्प्रवृत्ति। एक बातचीत के दौरान परसूराम भुइयां ने बताया—"पहिले तेन-पियार, महुआ-मेझरी पर दिन काटत रहे, अब त भात-रोटी मिले लागे बाबू। दस कठा-पांच कठा जमीनों मिलत बा सरकार से। उस्कूल खुली गइल बा। अब केहु ना पढ़ावे अपने लड़िका-बच्चा के त एमे सरकार क का दोष बा। पहिले राजा दई का बेगारी करत रहे बाप-दादा, अब त हमने अपने के राजा समझी लाजा।"

भुइयां जाति का सांस्कृतिक परिवेश भी बढ़िया है। ये करमा और मामो नाच नाचते हैं जिसमें स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित होते हैं। जिउतिया इनका प्रमुख पर्व है जिस पर ये मदिरा-पान करते और खूब नाचते थे। अब शराब कम पीते हैं। शाम के समय एकत्र होकर अखाड़ा में कीर्तन करते हैं। अब इनमें बाल-विवाह की कुप्रथा भी नहीं रही।

भाषा और साहित्य

विभिन्न जनजातियों की भाषाएं अपने आप में भिन्न और निराली हैं। इस जाति की भाषा में अनुनासिक ध्वनियों का प्राबल्य है। 'ये गउं-आइनी, भिखिया देहं' 'एक कवरा भतवा। बत्तावा इतिं बचवा के दीहुँ भुखइले बा', 'एक्को विथरा-भटिया दीहू।' आदि शब्दावली का प्रयोग मीरजापुर के दुद्धी तहसील के भुइयां करते तो पलामू के भुइयां गाते हैं——

"करम भइले पातर
चलले जोगिया भीछा मांगे करम भइले पातर।
चलते लवड़िया भीछा देवै,
करम भयले पातर।
हाय-हाय तिल-चाउर
जोगी दिहले छितराय
लेवाडिया के मारे घूसा चार
करम भयल पातर रे ऽ ऽ ऽ।
रोवत लेवड़ी घरे टूंके।
लरौरी सरोरी रानी दिहले उठाय
चलल रनियां भीछा देवे
करम भयल पातऽरी ऽ ऽ ऽ।"

"अर्थात् भाग्य खराब हो गया। योगी भिक्षा मांगने चला तो किशोरी ने तिल-चावल की ऐसी भिक्षा दी, कि वह नीचे गिर गयी जिसके कारण योगी क्रुद्ध हो गया। इस बात का पता जब रानी को चला तो रानी स्वयं भिक्षा देने चली। यह आखिर भाग्य का ही न फेर है।

इनके साहित्य में ज्ञान, वैराग्य, जीवन-शैली, संस्कार आदि से सम्बन्धित अगणित चित्र देखे जा सकते हैं।

•

मुण्डा

मुण्डा, मांझी, चेरो, खरवार, घसिया, उरांव लगभग एक ही वर्ग की जनजातियां हैं जो मुख्यरूप से कैमूर पहाड़ियों के सुदूर अंचलों तथा सोन-गंगा की घाटियों में न जाने कब से निवसित हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा के विभिन्न अंचलों में रहने वाली ये जातियां खेती और मजदूरी करती हैं। उड़ीसा से मीरजापुर की जमीन पर आकर कमाने-खाने वाले पीथो नामक मुण्डा ने बताया—"हम बहुत

आया है। फेमिली, परिवार लाया है। हम सब कमाता है। ट्रक से पानी फेंकने का काम करता है। छह बजे सुबह से छह बजे शाम तक काम करके दस-बारह रूपया कमा लेता है। हमारा स्त्री भी कमाता है। बेटा छोटा है। बड़ा होगा तो कमायेगा। साल में एक दफे घर जाता है। वहां बच्चा पड़ता है। उसे पैसा भेज देता है।"

कद का नाटा, रंग का काला, शरीर का तगड़ा, आधे टांग की धोती और बंडी पहिने पीथो की आवाज और व्यवहार में निर्भीकता परिलक्षित हो रही थी और अपने जीवन-स्तर से संतोष व्यक्त कर रहा था। मैंने उससे पूछा कि तब और अब में क्या अन्तर अनुभव करते हो ? तब सुखी थे अथवा अब सुखी हो ? तो उसने बताया—"तब और अब में जमीन आसमान का अन्तर है बाबू। तब जमीन हमारे पास नहीं था। अब बसने के लिए सरकारी जमीन मिला है। खेती के लिए भी जमीन मिला है। खेती करता है। एक एकड़ में तीस-चालीस मन धान उगाता है। गेहुँ, चना, मसुरी रहर, आलू, गोभी, टमाटर, भी पैदा कर लेता है। हम सब खूब जांगर लगाता है, खूब कमाता है। और खाये-पीये मस्त रहता है। घर काम नहीं रहता तो देश कमाने चला आता है। हम काम करता है बाबू, इस देश का आदमी जांगर चुराता है, इसी से खाने बिना मरता है। ईहां का आदिवासी भीख मांगता है, हम भीख नहीं मांगता।"

सचमुच उड़ीसा से आये आदिवासी यहां के आदिवासियों की अपेक्षा अधिक कुशल हैं। ज्यादा काम करते हैं। यही कारण है कि ठीकेदार बाहर से मजदूरों को बुलाकर काम कराना अधिक पसन्द करते हैं। सबसे कम काम करते हैं उत्तर प्रदेश के मजदूर आदिवासी। यही कारण है कि वे दुःखी भी रहते हैं। न खाने के लिए पेट भर रोटी मिलती है और न तन ढंकने के लिए काम भर वस्त्र। उड़ीसा के आदिवासी जहां दिन भर काम करके 10-12 रु० कमाते हैं, वहीं उत्तर प्रदेश के 5-7 रू० से अधिक का काम नहीं कर पाते।

सांस्कृतिक परिवेश :

मुण्डाओं का सांस्कृतिक जीवन सुखी है। दिन भर के काम के बाद थके-मादे जब वे शाम को अपनी झोपड़ी में आते हैं तो सबसे पहले खाने पीने का इन्तजाम करते हैं। गीतों के स्वर तो काम के समय भी गूंजते हैं और आराम के समय भी। हंसी-खुशी में समय जादू की तरह बीत जाता है। इनके जीवन में निश्चितता है, सरसता है, सादगी है और है सजगता, समरसता भी। इसीलिए ये कभी-कभी हम बुद्धिजीवियों से भी अच्छे और सुखी दिखलाई पड़ते हैं। ऐसा मैंने इनकी बस्ती में रहकर देखा और अनुभव किया है। आराम के समय में पति लेट जाता है, पत्नी उसकी सेवा में जुट जाती है। उसके सिर को सहलाती और गीत गुनगुनाती है तो क्षण में ही सारी थकावट काफूर हो जाती है। बच्चे अभिनय करते हैं, गाते हैं, बजाते हैं, नाचते और थिरकते हैं, एक दूसरे के सुख-दुख में भागीदार बनते हैं।

रात में सभी मुण्डा एक स्थान पर एकत्र होते हैं। स्त्री-पुरुष 'उब्रा' 'खुलेट' बाजा बजाते हैं। सभी हाथ में हाथ मिलाकर नाचते-थिरकते हैं। मुक्त हास-परिहास करते हैं। लज्जा-संकोच भी करते हैं, किंतु एक सीमा तक। इनके यहां कुछ भी दिखावे के लिए नहीं होता। इनके यहां सेक्स में बहुत गोपनीयता नहीं होती। उसे एक आवश्यकता के रूप में स्वीकारा जाता है।

सामाजिक जीवन

मुण्डाओं में शादी बचपन में नहीं होती। तीस वर्षीय सुरजू ने बताया कि उसकी शादी नहीं हुई है। शादी की जरूरत भी क्या है? कमाकर कुछ रख लेगा तो शादी करेगा। इनके यहां शादी कोई समस्या भी नहीं है, क्योंकि सामान्यतया एक हजार से तीन हजार के अन्दर शादी निपट जाती है। इसलिए कि इनके यहां दहेज प्रथा नहीं है। बल्कि लड़का वाला ही लड़की वाले की मदद करता है। पंडित पुजारी को कुछ देना पड़ता है। भोज-भात होता है। लड़की के लिए लहंगा, साड़ी और वर के लिए कपड़े सोने की जन्तर, बर्तन आदि लड़की वाले को देना पड़ता है।

इनका सामाजिक जीवन भी सुखी है। समाज या परिवार में स्त्रियों और बूढ़ों की बड़ी प्रतिष्ठा होती है। गृहस्थी रूपी चाक को चलाने के लिए स्त्री पुरुष के विचारों में बड़ा सामञ्जस्य देखा जाता है। झगड़े प्रायः नहीं होते, होते भी हैं तो उनका निपटारा वे स्वयं ही कर लेते हैं। पंचायत प्रथा अभी भी प्रचलित है।

अब धीरे-धीरे इनका झुकाव शिक्षा की ओर भी हो रहा है। अब कुछ ऊंची शिक्षा भी ग्रहण करने लगे हैं। अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों से इनका विश्वास टूटता जा रहा है। सब मिलाकर अब ये आधुनिकता की ओर अग्रसर हैं और सुखी जीवन की तलाश में हैं।

भाषा और साहित्य

मुण्डाओं की भाषा तथा बोली अन्य आदिवासियों से कुछ भिन्न है। सिंहभूमि के आदिवासियों की बोली में तनाव अधिक है। ये दुवंग नाच नाचते हैं जो कृष्ण की रासलीला की अनुकृति पर है। इस विवाहित अविवाहित दोनों स्त्री-पुरुष सभी एक साथ झूमकर नाचते गाते हैं। माघ में नाच के अवसर पर तथा अन्य शुभ अवसरों पर भी ये देशावती (ग्रामदेव) कुरूवोंगा (जंगल का देवता) की पूजा करते हैं। प्रायः हर पहाड़ पर इनके कोई न कोई देवता होते हैं जिन्हें मुर्गा चढ़ाकर पूजा जाता है। अरवा चावल, हरदी, सिन्दूर और शराब आदि चढ़ाकर पूजा-गीत गाने तथा नाचने की परंपरा भी प्रचलित है।

●

परहिया

अब मीरजापुर उत्तर प्रदेश का सबसे महत्वपूर्ण जनपद हो गया है क्योंकि यहां उद्योग-धन्धों का तेजी से विकास हो रहा है। आदिवासी प्रधान होने के कारण यह शताब्दियों से पिछड़ा और काला पानी बना रहा है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों से जुड़ जाने के कारण यहाँ का आदिवासी भी नये युग के साथ पांव में पाव मिलाकर चलने लगा है। यही कारण है कि उड़ीसा, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश के आदिवासी भी यहाँ आकर यहाँ के वातावरण में घुल-मिल गये हैं। आदिवासियों में कितनी ऐसी जातियाँ भी हैं जिनके बारे में किसी को कोई जानकारी नहीं है। उत्तर प्रदेश में ही कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनका कहीं भी कोई प्रामाणिक इतिहास-भूगोल प्राप्त नहीं होता। ऐसी ही एक जनजाति है परहिया। इनकी कूरियों या उपजातियों को संख्या 6 बतायी जाती है जो एक अलग अध्ययन का विषय है।

मिर्जापुर में ये जातियाँ अधिकतर दुद्धी तहसील के चवना, वैना, तिरकटवा, अंजनगिरा, कोंगा, लउवन, फांटपरवना, भइरी आदि गाँवों में न जाने कब से रहती आ रही हैं। ये सभी गाँव बभनी-नेउरपुर ब्लाक के अन्तर्गत हैं। ये पहाड़ों की तराई में निवास करते हैं तथा प्रायः मिट्टी के साधारण मकान अथवा झुग्गियों में रहते हैं। इनका आज भी सभ्य-शहरी वातावरण से बहुत कम सम्बन्ध है।

परहियों का मुख्य पेशा किसानी करना, लासा-लाही एकत्र करना, बगई घास काटना, उससे रस्सी बनाकर बेचना तथा बीड़ी-पत्ता तोड़ना आदि है। बभनी के सुरजन ने बताया कि अब वे दुद्धी, रेणुकूट, कोटा, बीना, सिंगरौली आदि औद्योगिक स्थानों पर जाकर काम करते तथा दस रुपये रोज तक कमा लेते हैं। सुरजन के दो लड़के, एक लड़की तथा उनकी मेहरिया है, सभी कमाता-खाता हैं, इसलिए मस्त रहते हैं। मन में आता है तो काम पर जाते हैं नहीं तो नहीं जाते। यह पूछने पर कि वे तब सुखी थे कि अब हैं, उन्होंने मूंछ पर हाथ रखते और मुस्कुराते हुए कहा––"अरे सरकार तब कऽ अब कऽ कवन बात बा। तब गाई भंइसी क घीउ मिलत रहल अब घासी क मिलऽता। तब अनाज सहता रहल, बाकी अमदनियइ कम रहल। अब त बेटा-पतोहु कमा तानिऽ पेट भर खाइ क अडण्ड परल बाइ अदिमी, न ठीकेदारन क डर बा न साहु जमीन्दारन क। पहिले से त अब सुख बटलइ बा बाकी जब महंगी रुकि जाइ।"

सुरजन ने बड़ी समझदारी की बात की। उसने बताया कि उसका पैतृक कार्य तीर-धनुष चलाना है। वह अपने तीर कमान से भागते जानवरों तथा उड़ती चिड़ियों को मार गिराता है। उसकी जाति में जो तीर-धनुष चलाना नहीं जानता वह कुजाति है।

परहिया जाति के लोग कन्दा गोड़ने का काम भी करते हैं। पहले यही उनका

भोजन था। विरइन कन्दा, जेठी कन्दा, बइर, नकवा, लासा तथा खुरसा का काम वे करते हैं। खुरसा एक प्रकार का जंगली फल है जिसे वे बैठा कर यानी पानी में उबाल कर खाते हैं। वे तब इसकी खेती करते थे तथा बेचते भी थे।

धर्म-कर्म में इनका बड़ा विश्वास है। ये धरती माता, डिहवार बाबा, गंवहेर, बनसत्ती आदि की पूजा करते महरानी माइं को सफेद रंग के बकरे की बलि चढ़ाते हैं। ये स्वभाव से शिकारी तथा मांसाहारी होते हैं। बलि का प्रसाद बॉट कर खाते हैं। मनौती पूरी होने पर नाच-गाने का आयोजन करते तथा जुलूस निकाल कर देवी की पूजा करते हैं।

फगुवा (होली) दशहरा, चैत, रामनौमी, सोहराई (दीपावली) एकादशी, तिलसकरा (खिचड़ी) आदि पर्व धूमधाम से मनाते हैं। इन अवसरों पर वे छक कर दारू पीते तथा करमा नाचकर हर्ष मनाते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक ने इनके बीच रहने और इनकी निष्कपट आत्मीयता प्राप्त करने का अनेकशः सुख प्राप्त किया है। सचमुच इनके जीवन में कहीं कोई बनावट तो है ही नहीं। जो इनका हो जाता है, उसे वे अपना सर्वस्व मान लेते हैं, किन्तु जो इनके साथ धोखा करता है, उसके जान पर भी आमादा हो जाते हैं। ये वचन के पक्के, ईमानदार, सत्यवादी तथा धुन के पक्के होते हैं।

परहिया लोक-वेद दोनों रीतियों से शादी-ब्याह कर लेते हैं। लड़की-लड़के का मन पट गया तो विवाह होगा। उसमें परिवार या पैसा बाधक नहीं हो सकता। वर-बधू दोनों पक्षों में जिसके पास पैसा होता है, खान-पान पर खूब खर्च करता है, पर दहेज की प्रथा नहीं के बराबर है। इनके विवाह में नाच-गाना प्रायः अनिवार्य होता है। विवाह के बाद भी एक साथ नाचते हैं।

टोना-टोटका में भी इनका विश्वास है। डाइन, भुताइन की पूजा-परंपरा भी इनमें प्रचलित है। किन्तु अब नये लड़के इसे अन्धविश्वास मानते हैं।

इनके गहने विचित्र हैं। इनके खिलहा और बनवारिया हाथ में पहनने के गहने हैं। ये एक बनवारिया मार दें तो आदमी चौंधिया जाय। यानी वह गीलट का बना वजनी गहना होता है ये मुनिया या मूंगे की गुरिया यानी माला पहनते हैं जो जंगल ही में मिल जाता है।

ये गुदना भी गुदाते हैं—स्त्रीपुरुष दोनों। पुरुष बाहों में और माथे पर गुदाते हैं तो स्त्रियाँ कलाई, बाँह, गला, सीना जाँघ और गालों पर भी गुदने गुदाती हैं। इनका कहना है कि मरने के बाद गहने तो घर वाले रख लेते हैं, गुदना ही साथ जाता है।

श्रमजीवी आदिवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार के उपाय

अपना देश गाँवों का देश है और अपने देश की संस्कृति गाँवों की संस्कृति ! आदिवासी-संस्कृति भारत की प्राचीनतम संस्कृति है। आदिवासी-समाज सदियों से शोषित तथा पीड़ित रहा है। वह सभ्यता की इस दौड़-धूप में भी, अपनी परंपराओं, परिस्थितियों तथा सीमाओं में इतना रूढ़िवादी है कि आज की विकसनशील प्रवृत्तियाँ अनेक सन्दर्भों में उसे पसन्द ही नहीं आतीं। तब भी, वह युग के साथ कदम में कदम मिला कर चलने लगा है। अब उसके विकास तथा प्रगति के मार्ग प्रशस्त हो रहे हैं।

आदिवासियों की आर्थिक दशा सुधारने के अनेक प्रयत्न किए जा रहे हैं। नये उद्योग-धन्धे खोले जा रहे हैं। अल्म्युनियम, सीमेंट, विद्युत, चीनी, कागज, कपड़ा, जूट कोयला आदि बड़े सरकारी तथा गैर सरकारी उद्योगों में इन्हें काम दिया जा रहा है। कृषि तथा घरेलू उद्योग-धन्धे के लिए भूमि, खाद, बीज और धन दिया जा रहा है। ताकि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें और आज के विकसित तथा प्रगतिशील समाज के साथ कदम में कदम मिला कर चल सकें लेकिन ये इन तमाम सुविधाओं का यत्किचित लाभ ही उठा पा रहे हैं। उनकी सुविधाएँ बिचौलियों में बँट जा रही हैं।

आदिवासी पहले बंधुआ जीवन व्यतीत करते थे और कर्ज के बोझ से दबे रहते थे। अब उन्हें कानूनन मुक्त कर दिया गया है। यही कारण है कि वे मुक्त हवा में सांस लेने लगे हैं और स्वयं ही उद्योग-धन्धों में रुचि भी लेने लगे हैं। अब वे कहीं सहकारिता के आधार पर कृषि करते हैं तो कहीं उद्योग। जो जोखिम उठाना नहीं चाहते वे उद्योग-धन्धों में श्रमिक की हैसियत से काम और मजदूरी कमाते हैं। अब तक 617 बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उन्हें भागीदार भी बना लिया गया है। इन्हीं कारणों से नये उद्योगों में 1974–75 में 2.5% की वृद्धि हुई थी जो 1975–76 में बढ़कर 4.5% हो गई। अनेक ऐसे भी उद्योग हैं जिनमें आदिवासी मालिक की हैसियत से काम करने लगे हैं। उदाहरण के लिए हथ-करघा उद्योग को ही लिया जा सकता है। यह घरेलू उद्योग है तथा हजार डेढ़ हजार रुपये से ही आरम्भ किया जा सकता है। इसके लिए सरकारी अनुदान भी आसानी से प्राप्त हो जाता है। कालीन, दरी तथा हैण्डलूम के कपड़े बनाने में हजारों परिवार लगे हुए हैं, लाखों व्यक्ति आराम की जिन्दगी जी रहे हैं। इस उद्योग में घाटे का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। ऊन के रूप में–कच्चा माल एजेन्टों अथवा क्रेताओं द्वारा घर पहुँचा दिया जाता है। इतना ही नहीं, बने हुए माल की बिक्री की भी कोई समस्या नहीं है। एजेन्ट ही माल खरीद कर ले भी जाते हैं। अब यहीं समझें कि हजार-पन्द्रह सौ रुपये की लागत से यदि परिवार के लोग भी काम करें तो एक व्यक्ति, कम से कम 10/–रुपये रोज तो पैदा कर ही सकता है। यह बड़ा रुचिकर उद्योग है और स्त्री-बच्चे बड़ा मन लगा कर इस कार्य को करते हैं। लेकिन इस उद्योग से भी थोड़े ही लोग लाभ उठा पा रहे हैं। वे

साहस बटोरने के लिए तैयार ही नहीं होते। वास्तव में अधिकतर आदिवासी जंगलों पहाड़ों अथवा उसके आस-पास ही रहते हैं अतः जंगलों पर आधारित तथा घरेलू धन्धे ही उनके लिए अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे उद्योगों में काष्ठ, कागज के उद्योग, रेशम, मत्स्य-पालन उद्योग, पशु-मुर्गी तथा सूअर-पालन उद्योग, जड़ी-बूटियों पर आधारित आयुर्वेदिक औषधि-निर्माण उद्योग, लकड़ी तथा बाँस के खिलौने बनाने के उद्योग तथा पत्थर के जाँत-चकरी तथा चौके आदि बनाने के उद्योग मुख्य हैं। कहना न होगा, अनेक स्थानों पर आदिवासी इन उद्योग-धन्धों में लगे भी हैं और अच्छी आय कमा रहे हैं।

अब आप ही सोचें, काष्ठ उद्योग में क्या करना है ? लकड़ी मिलती ही है। मिस्त्री रख कर या स्वयं मिस्तराना सीखकर कुर्सी-मेज, खूँटी, हैंगर, रेक आदि क्या नहीं बनाए जा सकते हैं ? मुर्गी तथा सूअर-पालन ही में क्या है ? मुश्किल से दो-चार सौ रुपये का काम है। उसे भी सरकार देती है। मुर्गियाँ तक सरकार देती है। आदिवासी ही क्या कोई भी चाहे तो उन्हें पाल सकता है। उनके अंडे बेचकर आमदनी बढ़ा सकता है, मुर्गियों के लिए चारा तक सरकार देती है। इसी प्रकार सूअर-पालन उद्योग है। इससे तो और भी अच्छी आय ली जा सकती है। तीन-चार सूअर पाल लीजिए उनकी संख्या बढ़ते देर नहीं लगेगी। 'सूअर बियान' कहावत अधिक बच्चा पैदा करने के संदर्भ में प्रसिद्ध है। अधिक धन कमाने के लिए इनके बच्चों को बेचते जाइये। इनके चारे की भी समस्या नहीं है। इन्हे भी गाय-बैलों की तरह चराया जाता है। शाम-सुबह दो घण्टे परिश्रम करके आदिवासी क्या कोई भी व्यक्ति अपनी आमदनी बढ़ा सकता है। बहुत से आदिवासी इस कार्य में लगे भी हैं और अच्छा पैसा पैदा कर रहे हैं।

इसी तरह बीड़ी बनाने का काम है, चीनी मिट्टी के बर्तन, खिलौने आदि बनाने का काम है, पुराने कामों में रस्सी बँटना, मधु-मक्खी पालना, बाँस की डलिया आदि बनाना, मिट्टी के बर्तन तथा जूते बनान आदि भी हैं। सरकार इनके लिए आर्थिक सहायता देती है। अब गाँवों में भी इन कार्यों के लिए पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त हैं। प्लास्टिक के खिलौने बनाने का काम एक नया काम है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में इन सभी उद्योगों की भारी सँभावनाएँ हैं। अब यह बात दूसरी है कि लोग इसे करते हैं कि नहीं। जहाँ तक आदिवासियों का सवाल है, आदिवासी इनमें से हर कार्य कर सकता है। वह बीड़ी-पत्ता तोड़ता ही है, चाहे तो बीड़ी भी बना सकता है। बनी हुई बीड़ी बाजार में या एजेन्ट के पास बेच कर अपना पैसा खड़ा कर सकता है। दर-दर की ठोकरें खाने से, लकड़ी काटने या दूसरों की मजदूरी करने से अच्छा है कि वह उसमें हाथ बटाए। इस काम में स्त्री-बच्चे सभी लग सकते हैं।

चीनी मिट्टी के काम में बहुत से लोग लगे ही हैं। इसके लिए भी सरकारी सहा-

यता मिलती है। सहकारिता के आधार पर भी यह कार्य होता है। चुनार में चीनी मिट्टी का उद्योग इतना महत्वपूर्ण साबित हुआ है कि अब उसका व्यापार राष्ट्रीय स्तर पर पहुँच चुका है। हजारों लोग इस कार्य में लगे हैं और अच्छी आय कमा रहे हैं।

नये उद्योगों में प्लास्टिक के खिलौने तैयार करने का उद्योग है। यह भी एक ऐसा उद्योग है जिसे थोड़ी लागत से आरम्भ किया जा सकता है। सरकारी सहायता तो सब के लिए मिलती है। इससे भी अच्छी आमदनी हो जाती है और परिवार के लोगों को काम भी मिल जाता है।

इसी तरह के और भी अनेक उद्योग हैं जिन्हें ग्रामोद्योग कह सकते हैं। हमारे यहाँ टाउन-एरिया में कुछ हरिजनों ने चमड़े सिझाने तथा जूते बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया है। उन्होंने इस कार्य को सहकारिता के आधार पर आरंभ किया है। कच्चे चमड़े की वहाँ कमी है ही नहीं, वे उसे वहीं सिझाते हैं और स्वयं जूते तैयार कर के बाजार में बेचते हैं। बड़े मजे में उनकी दाल-रोटी चल रही है।

कहने का तात्पर्य यह है कि नये उद्योग तो बहुत है, किन्तु उन्हें करने वाले अथवा उनमें रुचि लेने वाले ही नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि आदिवासियों में इन कार्यों को करने की अभिरुचि पैदा की जाय। उन्हें उनकी उपयोगिता बताई जाय। सम्भव हो तो आवश्यक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जाय। यह कार्य ब्लाक स्तर पर किया जा सकता हैं। ग्राम सेवक, ए० डी० ओ० (उद्योग) गाँवों में जाकर बताएँ कि आदिवासी कौन-कौन से उद्योग आसानी से कर सकते हैं और उनके लिए कौन-कौन सी सरकारी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। नमूने के तौर पर कुछ उद्योग राजकीय स्तर पर भी खोले जा सकते हैं। इसके लिए आदिवासियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। वे हीन-भावना से इतने ग्रस्त हैं कि प्रगति की बात ही नहीं सोचते। उन्हें इस भावना से मुक्त कर के ही हम उनके उत्थान की बात सोच सकते हैं। प्रसन्नता इस बात की है कि इस दिशा में भी काफी प्रयत्न किए जा रहे हैं। यही कारण है कि आदिवासी-समाज पहले की अपेक्षा अब अपने को अधिक आधुनिक तथा विकसित समझने लगा है।

तीसरा अध्याय

धार्मिक जीवन: धर्म-कर्म, पूजापाठ एवं पुजारी वर्ग की जनजातियां

आदिवासी धर्म के प्रति आस्थावान तो है ही, उसकी मान्यताओं से वह आज भी विरत नहीं हुआ है। धर्म में संशोधन की प्रक्रिया उस पर कभी लागू नहीं हुई। टोना-टोटका, मंत्र-तंत्र तथा झाड़फूंक के प्रति उसका विश्वास घटा अवश्य है, इसलिए कि उसमें भ्रांतियां थीं, अन्धविश्वास की भावना जुड़ी थी। वह धीरे-धीरे कम अवश्य हो रही है।

आदिवासियों के धर्म-देवता

आदिवासियों के सर्वमान्य देवता कर्मदेव हैं जिसकी पूजा वे खरीफ की फसल लहलहाते समय प्राय: अनन्त चतुर्दशी के अवसर पर यश और समृद्धि के लिए करते हैं।

आदिवासी वृक्ष और पशु-पूजा में विश्वास करते हैं। वृक्षों में सेमल, कदम, नीम, वट, पीपल आदि की तथा पशुओं में बाघ, बैल, गाय की पूजा सर्वत्र की जाती है। कीड़ों-मकोड़ों में सांप, बिच्छू की पूजा-परंपरा भी उनमें प्रचलित हैं। देवहर-पूजा करते हैं। गुरदम भांजते हैं और इससे अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करते हैं। वनसत्ती, घमसान, बघउत, दुल्हादेव की पूजा भी उनमें सामान्य है। बलि वे प्राय: सूअर और बकरे की चढ़ाते हैं।

बैगा, चेरो, कोल, भूइंहार तथा पठारी आदिवासियों की पुजारी जातियां हैं। कोलों के मुख्य देवता राजा लाखन हैं। ये लाखन कन्नौज के जयचंद के पुत्र थे। कोल बिरम्हीं देवी की पूजा जादू की देवी मानकर करते हैं। ये सेवरी की पूजा इसलिए करते हैं कि भगवान ने उनके यहां जूठी बेर खायी थी।

दुल्हादेव घसिया जनजाति के विशेष देवता हैं। एक लोक-कथा के अनुसार ये युद्ध के देवता हैं। विवाह के समय युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाने से उनके पूजा की परंपरा चल पड़ी।

खरवारों के देवता राजा चन्दोल थे जो दुद्धी (मीरजापुर) के गौरा पहाड़ी पर पीपल के पेड़ के नीचे स्थित थे। उनकी आज भी प्रतीक-पूजा की जाती है।

चुनार (मीरजापुर) के पास पिपरी गांव में एक आदिवासी मंदिर है। उसमें प्रतिष्ठापित बिरम्हा या बिरम्हीं देवी की पूजा वहां की मुसहर जाति के लोग करते हैं। सक्तेशगढ़ (चुनार) के पास कोलना गांव में कोलों के देवता की पूजा की जाती है। बघउत की पूजा बाघ का प्रतीक मानकर और चिथड़िया वीर की पूजा चिथड़ा पहनने वाला देवता कह कर की जाती है।

जो जाति जहां रहती है, अपनी सुविधा के लिए, अपने पुजारियों से वहीं देवी-देवताओं की स्थापना करा लेती है। पठारी तुरकिन देवी की पूजा स्त्री-पुत्र के रूप में करते हैं। यह देवी सोन नदी के दक्षिण में रहती है किन्तु लगता है किसी मुस्लिम देश से आदिवासियों में इसकी पूजा की परंपरा प्रचलित हुई है। इससे इनके धर्म में समन्वय की भावना भी परिलक्षित होती है। बरवर दूसरा पूत है जो आंडी पहाड़ी पर निवास करता है। ये दोनों बहिन-भाई हैं जो सभी पहाड़ों पर शासन करते हैं। ये कनहर नदी में भी रहते हैं। ये कुल्लू पेड़ से निकलते तथा पेड़ पर पत्थर फेंकते हैं।

आदिवासियों के कुछ देवता धरती के, कुछ आकाश के और पाताल के भी हैं। इसीलिए ये तीनों की पूजा भी करते हैं। धरती माता की पूजा सभी आदिवासी करते हैं। आकाश में सूर्य और चन्द्रमा की पूजा की जाती है। पाताल के देवता जल और नाग हैं। सरगुजा के कुरुसो नदी में पानी का देवता है। इसी प्रकार पानी का एक दूसरा देवता सोन नदी में चोपन से पांच कि०मी० पश्चिम में निवास करता है। नाव वाला इसकी पूजा किये बगैर आगे बढ़ता है तो उसकी नाव दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है। इन दोनों देवताओं की पूजा बैगा इसलिए करते हैं कि पानी बरसे और फसल उत्तम हो।

आदिवासियों के एक देवता बंका पहाड़ी पर रहते हैं। ये क्रोधी हैं और इनके रुष्ट होने पर बीमारियां, महामारियां आती हैं। इन्हें दानों देव भी कहते हैं।

इसी प्रकार सरगुजा की सीमा पर एक अहलोर हिल है जिस पर बघराज कुंवर रहते हैं। वे अहीरों (आभीर) के देवता हैं। उनकी पत्नी झोवा पहाड़ी पर रहती हैं। दोनों रात में मिलते हैं। भउरा पहाड़ी पर दरियासत देवता निवास करते हैं। दुद्धी में मिरगारानी और कोटा रानी का निवास है। ये माझियों के देवता हैं। विंढमगंज के सेमरहवा बाबा खरवारों के देवता हैं। अलियार-बलियार दोनों भाई खरवारों के देवता बन गये हैं। गोंडों के देवता बड़ादेव हैं जिनकी पूजा डमरू बजाकर की जाती है। गोठानी में बघउत की मूर्ति है जिसकी पूजा खरवार करते हैं। बिन और भुरतिया काशीबाबा की पूजा मवेशियों की रक्षा के लिए खौलते दूध का प्रसाद बांटकर करते हैं। गोरइया की पूजा भी गो-रक्षा के लिए पशुओं के बांधने के स्थान पर की जाती है। गंवहेर की पूजा गांव की रक्षा के लिए गांव की सीमा पर की जाती है। हैजा आदि दैवी प्रकोप के निवारणार्थ इनरासनी देवी की पूजा लाल झण्डे लेकर गांव गोंठ कर की जाती है। वन में रक्षा के लिए वनसत्ती की पूजा की जाती है। धरकारों के देवता 'पहाड़ पड़ों', 'पुरासिन', 'बन्हियावीर' 'रेवनाथ' हैं। अंगरमती भवानी, बिरतिया, दुल्हादेव, पंचमवीर की पूजा-परंपरा भी धरकारों में प्रचलित हैं। द्रविड़ियन जाति के बैसवार बरदी में एक भवानी की पूजा करते हैं। वे कोटा (मिर्जापुर) के ज्वालामुखी की पूजा हाथ में बोरसी (अंगीठी) लेकर उसमें आग रखकर प्रायः नवरात्र के अवसर पर नाचते हुए करते हैं। परहिया जनजाति के लोग दशहरा, धरती और

बरगादी की पूजा विभिन्न अवसरों पर करते हैं। इस प्रकार सभी जनजातियों के अलग-अलग देवी-देवता हैं जिनकी पूजा की परंपरा अनादि काल से प्रचलित है।

इतने प्रकार के देवी-देवता हैं किन्तु इनकी पूजा-विधि के लिए इनके पास कोई पोथी नहीं है। मिथकों और गाथाओं के आधार पर ये पूजा-विधि का निर्धारण परंपरागत ढंग से कर लेते हैं। इनकी जाति में जब कोई बड़ा हो जाता है तो वे उसकी पूजा करने लगते हैं। जैसे किसी को बाघ ने मार खाया या किसी के द्वारा बाध मारा गया तो उसकी पूजा वे बघउत मान कर करने लगते हैं। घमसान ने बहादुरी का काम किया इसलिए एक कहावत प्रचलित हो गयी—बिन घमसान कवन बोरे तपनी।' तभी से घमसान की पूजा प्रचलित हो गयी। कहने का तात्पर्य यह कि आदिवासी-समाज लोक वेद में से लोक को अधिक महत्व देता है। वह अपने पुजारी की बात को आप्त वचन समझता है।

एक उल्लेख के अनुसार जनजातियों के 59 तरह के धर्म हैं, किन्तु सभी हिन्दू धर्म से सम्बद्ध हैं। थोड़े इस्लाम और जैन धर्म को और कुछ ईसाई धर्म को मानते हैं। जो धर्म इनको रोजी-रोटी देने की बात सोचता है, उसके प्रति वे आस्थावान हो जाते हैं। ईसाई धर्म इनमें इसीलिए अधिक बढ़ा। फुरें के अनुसार जनजातीय धर्म हिन्दू धर्म का एक पिछड़ा रूप हैं। एल्विन का विचार है कि भारत में जनजातियों का धर्म, हिन्दू धर्म के शैव धर्म से निकटतः सम्बन्धित है। अतः हिन्दू धर्म और जनजातीय धर्म का एक-दूसरे से भेद करना निरर्थक है। तब भी मानना होगा कि हिन्दू धर्म के मूल में जनजोतीय धर्म ही रहा होगा। संक्षेप में जनजातीय धर्म तथा देवी-देवताओं के बारे में निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(1) आदिवासी धर्म प्रयोग और विश्वास पर आधारित है

(2) उनका धर्म उन्हें जीवन में पुरुषार्थ की प्रेरणा देता है।

(3) उनके धार्मिक कृत्य, अनुष्ठान, पूजा, तर्पण, बलि में लोक मान्यताओं की प्रमुखता है।

(4) वे अलौकिक शक्तियों में विश्वास करते हैं।

(5) वे जानवरों, नदियों, वृक्षों, तालाबों, पहाड़ों की पूजा करते हैं।

(6) वे पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।

(7) उनके देवी-देवता पारलौकिक नहीं इहलौकिक हैं।

आदिवासियों में दुर्गापूजा

नवरात्र का समय । दुर्गाष्टमी का दिन । मैं परासी गांव में जा डटा । परासी मिर्जापुर जिले के दुद्धी तहसील का वह गांव है जहां पनिका, वैसवार, खरवार आदि आदिवासी जातियां न जाने कब से रहती हैं । रामसुमेर वहां के अच्छे खाते-कमाते व्यक्ति हैं जिनके द्वार पर पेड़ के नीचे पड़ी एक टूटी खाट पर हम बैठ जाते हैं । धीरे-धीरे गांव के लोग भी जुटने लगते हैं । तब तक गांव के एक छोर से आवाज आने लगती है—

'माई सारधा की जै । सुरसती माई की जै । फूलमती महरानी की जै । वनसत्ती मइया की जै ।'

आवाज धीरे-धीरे तेज होती जाती है । ढोल-मजीरा के संग गीत की ये पंक्तियां भी गायी जाती हैं—

वन केदली से सजइ हंथिनियां
अल्हा भयल असवार हो माऽऽऽइ ।
एक पर लादै झण्डा—
एक पर लादै निसान हो माऽऽऽइ ।

देखते-देखते एक जुलूस सामने आ जाता है । आगे-आगे गांव का पुजारी बैगा—एकदम काला-कलूटा भूत की तरह । कमर में एक बिंहटी, हाथ में पूजा का सामान, और कुछ नहीं । उसके पीछे गांव का गोड़इत लोहे की सीकड़ जिसे वे गुरदम कहते हैं, भांजता हुआ चला आ रहा है । उसके भांजने से उसकी पीठ से रक्त स्रवित हो रहा है । उसके पीछे एक आदमी और है जिसने तेज धारवाली नुकीली छूड़ी अपनी जीभ में गोद रखी है । रक्त भी बूंद-बूंद चू रहा है । पूछने पर लोगों ने बताया कि यह 'वाना' है । सच्चा देवी भक्त ही इसे जीभ में गोद सकता है । देवी इससे प्रसन्न होती हैं । और देवी को प्रसन्न करने वाला मनचाहा वरदान भक्तों को देता है । इसे एक प्रकार से अपनी बलि चढ़ाकर देवी को प्रसन्न करना कहा जा सकता है ।

उसके पीछे कुमारी लड़कियां हैं जो अपने-अपने सिर पर मिट्टी का कलश रखे हुए हैं । कलश में जई (जौ की पौध) है । इसीलिए कुछ लोग इसे 'जइया पूजा' भी कहते हैं । कुछ लोगों का कहना है कि वह कलश नहीं देवी का खप्पर है । उसमें आग सुलग रही है । कुछ लोग चुनरी, नारियल, धूप-दीप और रोली-अक्षत भी लिये हुए हैं ! दो-तीन लोग मोरपंख हाथ में लेकर नाच रहे हैं । लड़के-बच्चे पीछे-पीछे चल रहे हैं । कुछ लोग भाव विभोर होकर नाच रहे हैं ।

जुलूस आगे बढ़ता है और उनके संग-संग मैं भी आगे बढ़ता हूं। आगे एक मंदिर पड़ता है। मंदिर में चारों ओर घूम-घूमकर लोग नाचने-गाने लगते हैं। मैं डायरी निकाल कर गीत की पंक्तियां नोट करने लगता हूं कि तभी रामधनी देवता खिलाने लगता है। 'अरे ई कहां से आयल बा रे? देवी क अपमान करत बा रे। हाको ! हाको ! ! हाको ! !'

उनकी लाल-लाल आंखें देखकर मैं डर जाता हूं। लोग मुझे अलग कर देते हैं। कुछ लोग रामधनी को समझाने लगते हैं। मैं हाथ जोड़कर क्षमा याचना कर लेता हूं और गीत लिखने का उद्देश्य स्पष्ट कर देता हूं थोड़ी देर में सब शांत हो जाता है, पर बाद में लोग मुझसे कहने लगते हैं–'जाइये आप बच गये, नहीं तो....।' मैं समझ जाता हूं कि मुझे टोना या भूत का शिकार होना पड़ता। देवी अप्रसन्न हो जाती। खैर, मेरे ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ।

मैंने जुलूस का साथ नहीं छोड़ा और उसके संग-संग अनपरा गांव तक गया। गांव में जिन-जिन घरों में या देवस्थानों पर सब गये मैं भी गया। हर घर के आंगन में पूजा की जाती थी। पुजारी को पूजा के बदले में कुछ अनाज या पैसा मिलता था। बीसों घर में जाने के बाद लगभग पचास रुपये नकद तथा बीस-पचीस किलो अनाज मिला होगा। एक बजे के बाद जुलूस तितर-बितर हो गया और सभी लोग अपने-अपने घर चले गये।

रात के नौ बजे फिर एक देवस्थान पर सब लोग एकत्र होने लगे। वहां भी होम-शाकला किया गया। स्त्रियों ने देवी के गीत गाये—

नीचे से उतरय कुतरइया
एंगुर पारल बा।
सेज ओरी बइठइं राजा दसरथ
पंगिया संवारत भोर परि गयल
गड़ि गइल अंगुरिया में फांस।

गीत की पंक्तियों के साथ बैगा पर देवी आ गयीं और उसका सिर हिलने लगा। फिर उसने आंखें बन्द कर लीं। देखते-देखते हबुआने–ओझाई करने लगा। लोग हाथ जोड़कर अपने-अपने दुख-दर्द सुनाने लगे। सबको भभूत दी और कहा—'गांव का संकट दूर हो जायेगा, लेकिन देवी को बकरा चढ़ाना पड़ेगा।' सबने एक स्वर से बकरा चढ़ाना स्वीकार कर लिया तो देवी बैगा के सिर से उतर गयीं।

दूसरे दिन नौमी थी। सब लोग अपने-अपने घर से पूजा की सामग्री लेकर एक स्थान पर एकत्र हुए। पहले दिन की तरह पुनः जुलूस निकाला गया। घूम-घूमकर देवी की पूजा की गयी। एक स्थान पर बकरे की बलि चढ़ाई गयी जिसका थोड़ा-

थोड़ा प्रसाद लोगों को बांटा गया। शेष बैगा अपने घर ले गया। दारू और मांस इस दिन का प्रसाद भी था और भोजन भी।

यहाँ दुर्गा-पूजा की अलग-अलग विधियां और परंपराएं प्रचलित हैं। मुझे लगा कि आदिवासियों में कुछ अंध-भक्ति भी है। वे भूत-प्रेत, ओझाई-देवाई तथा बलि के साथ इस प्रकार जुड़े हैं कि उससे वे मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। बैगा उनका शोषण करते हैं और अपनी रोजी-रोटी के लिए उन्हें अंध-विश्वास से मुक्त होने नहीं देते। देवी की सत्ता-महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह विश्वास आधारहीन प्रतीत होता है कि देवी एकमात्र जीवहत्या (बलि) से ही प्रसन्न होती हैं। मैं समझता हूं कि सात्विक, अहिंसक पूजा से देवी और जल्दी प्रसन्न हो सकती हैं। पर आदिवासियों के बीच से यह धारणा दूर कौन करे ?

●

पुजारी वर्ग की जनजातियां

चेरो

चेरो को कहीं-कहीं 'वैगा' या 'बैगा' भी कहते हैं। गोचोरण, पशु-चारण अथवा पौरोहित्य करके ये अपनी जीविका चलाते हैं। पहले ये सामन्ती तथा ठेकेदारी प्रथा के शिकार थे, किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। निर्धनता के कारण जहां ये गांव के जमींदारों, साहूकारों से ब्याज पर रुपये या डेढ़ा-बाढ़ी पर अनाज लेते तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनका भुगतान करते थे, बंधुआ जीवन जीने के लिये विवश थे, पुरोहिती करके एक सेर सीधा या कुछ पशुओं को चराकर एक आना प्रति पशु प्रतिमाह की दर से चरवाही उगहते और उसी से अपना तथा अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे, वहां अब उद्योग-धन्धों में काम करके 5 से 10 रुपये तक प्रतिदिन की दर से मजदूरी कमा लेते हैं। अपने खाली समय में ये लकड़ी, दोना-पत्ता, महुआ, आँवला, हर्रा-बहेड़ा आदि भी एकत्र कर लेते हैं। अब ये प्रायः ऋण-मुक्त भी हो गये हैं, तब भी इनकी सारी कमाई दोना भर ही रह जाती है। रोज कुंआ खोदते और रोज पानी पीते हैं।

चेरो एक पुरानी जाति है। पहले ये शासक थे। महुली के बरियार शाह चेरो जाति के ही थे। ये नगर ऊँटारी में भैया साहब के साथ हुए युद्ध में मारे गये थे। मूड़ीसेमर (विंढमगंज) में आज भी उनकी पूजा होती है।

चेरो मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश की जनजाति है। पहले मीरजापुर का जिला बिहार प्रान्त में मिला हुआ था, जिसका दक्षिणी भाग कोलया भखार तक फैला हुआ था। पश्चिम में रीवां तथा उत्तर में बनारस था। प्रमाण रूप में आज भी चेरो जाति की जनसंख्या अकेले मीरजापुर में 19,833 है।

पठारी

आदिवासियों में भी छोटी-बड़ी जातियाँ होती हैं। पठारी आदिवासियों में बड़ी या ऊँची जाति है, जो ब्याह कराने, पूजा-पाठ करने, कथा-वार्ता करने तथा जातिच्युत आदिवासियों को पुनः जाति में सम्मिलित करने का काम कराती है। खाली समय में इस जनजाति के लोग भी खेती-बाड़ी, मजदूरी या व्यवसाय कर लेते हैं। अब शिक्षा के प्रति इनकी रुझान हुई है, अतः नौकरी तथा व्यवसाय भी ये करने लगे हैं। पठारी मीरजापुर में चुनार के आसपास तथा सोन की तराई में सलखन के आसपास पहाड़ी गाँवों में निवास करते हैं। ये हर्रा-बहेड़ा, शहद, चिरौंजी तथा फल-फूल और पत्ता का भी व्यापार करते हैं। बाल बनानै का काम भी ये करते हैं।

पठारी जनजाति का सांस्कृतिक जीवन विचित्र है। ये मृतक को जलाते, किन्तु महामारी या अकाल मृत्यु हो जाने पर गाड़ते या पानी में शव को प्रवाहित कर देते हैं। मृतक की हड्डी दीमक के टीले में गाड़कर कहते हैं, अब उसे गंगा में प्रवाहित कर दिया। यानी वे गंगा को पवित्रतम नदी मानते हैं। मोक्ष में विश्वास करते हैं।

पुत्र जन्मोत्सव, नाल–छेदन, अन्नप्राशन, विवाह, गवन आदि संस्कारों को ये मानते हैं। इनकी मामा-फूफू में शादी हो जाती है। अपनी जाति में विवाह करते हैं। दहेज की प्रथा इनके यहाँ नहीं है। ओझाई-देवाई, झाड़-फूंक, टोना-टोटका में इनका विश्वास पहले ही से है, किन्तु अब पढ़े-लिखे युवकों का विश्वास उससे हटता जा रहा है।

इनकी स्त्रियाँ आभूषण-प्रिय होती हैं। ये हाथ में पीतल या फूल का वनवरिया कंगन पहनती हैं। पैरों में पेंरी, घुंघरू (दो-तीन किलो वजन का), नाक में फोफी, कान में लकड़ी या पीतल-चाँदी का कर्णफूल, कमर में गिलट की करधनी, गले में हंसुली, बाज़ू में बाज़ूबंद, बरेखी पहनती हैं।

पठारी मांझी करमडांड़ नाच करते हैं। स्त्री-पुरुष सभी एक साथ मिलकर समूह नृत्य मादल- वाद्य के साथ करते हैं। किसी विशिष्ट अवसर पर जब ये अन्य लोगों को आमंत्रित करते हैं तो आमंत्रित व्यक्ति अपने साथ खाने-पीने का सामान भी लाते हैं। सभी मिल-बाँट कर खाते-पीते हैं। पहले छक कर मदिरा पान भी करते थे किन्तु अब ऐसा बहुत कम करतें हैं।

पठारी धार्मिक होते हैं। ये मुख्य रूप से तुरकिन की पूजा करते हैं, जो स्त्री-पूत है और सोन के दक्षिण में रहकर उनकी व्याधियों से रक्षा करती है। बरवर इनका दूसरा देव-पुत्र है, जो आण्डी पहाड़ी पर रहता है, इनके वंश और पशुओं की रक्षा करता है। ये दोनों भाई-बहन हैं, जो प्रायः सभी पहाड़ों पर रहते हैं, शासन करते हैं। ये कनहर नदी में भी रहते हैं।

पुराने किलों के ध्वंसावशेष देखने को मिलते हैं। उपर्युक्त क्षेत्रों में अनेक राजाओं ने अपना-अपना आधिपत्य जमा रखा था। उनके अधीन छोटे-छोटे राज्य थे। उन्हीं में चेरो, खरवार, गोंड भी शासन करते थे। यही कारण है कि आज भी अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की जनसंख्या 53·4 प्रतिशत है जबकि अकेले मिर्जापुर जनपद में कुल जनसंख्या का 33·6 प्रतिशत अनुसूचित जाति अथवा जनजाति के लोग हैं।

गैर आदिवासियों के विस्तार के साथ-साथ आदिवासी मुख्य स्थानों से हटते गये से मुक्त और एकान्तिक जीवन जीने के अभ्यासी होने के कारण वे गैर आदिवासियों। कभी जुड़ नहीं सके। इसलिये भी कि गैर आदिवासी उनका सदा शोषण ही करते रहे। इनके स्वास्थ्य, इनकी शिक्षा, इनके आवास आदि के लिए किसी को कोई चिन्ता न थी, किन्तु अब इनमें स्वयं चेतना जगी है। इनकी मानसिकता में परिवर्तन हुआ है। पं० जवाहर लाल नेहरू के पंचशील सिद्धांतों के आधार पर इनके उत्थान हेतु शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक तथा रहन-सहन के विकास की योजनाएं कार्यान्वित की गयी हैं।

चेरो जाति का साहित्य धनी है। जैसा कि बताया गया, यह जाति मुख्य रूप से पूजा-पाठ करती, कराती है। ये नीम या पीपल के वृक्ष तले बलि भी चढ़ाते हैं। ग्राम-देवता की पूजा करते हैं। जब कोई विपदा आती है तो चेरो या बैगा गांव में हांक लगाता है। एक कौपीन पहनकर नंगे बदन बांस की कनाई में लाल झंडियां लगाकर गांव के चारों ओर परिक्रमा करता है और फिर गांव के लोगों को इकट्ठा करा कर पूजा करता है। इस अवसर पर स्त्रियां भी इकट्ठी होकर गीत गाती हैं।

इनकी भाषा में अवधी और भोजपुरी का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'र' और 'ल' के स्थान पर 'ल' वर्ण की प्रधानता मिलती है। यथा—"बेटो के सगाई करे के बान', 'महतारियो के कहे दे मोर संगे बाजारो चनी आ।' सिकारे खेले जाबे' आदि।

चेरो खपरैल के मकान या छप्पर में रहते हैं। विवाह अपनी कूरी या गोत्र में करते हैं। दहेज-प्रथा इनमें भी नहीं है। ये झगड़ों का निपटारा पंचायत-प्रथा से कर लेते हैं। गांव के किसी छोर पर बसते हैं ताकि दैवी आपत्तियों से गांव की रक्षा कर सकें। यजमानी में मिली जमीन पर खेती भी कर लेते हैं। मधु-चिरौंजी का व्यापार भी करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आज भी इनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है। उसे सुधारने के लिए नीचे लिखे उपाय किये जा सकते हैं—

(1) इनकी रुचि-रुझान के अनुसार इन्हें लघु उधोग-धन्धों में लगाया जाय।

(2) इन्हें अन्धविश्वासों से मुक्त किया जाय।

(3) इनके लिए अलग से विद्यालय खोले जायें और प्रौढ़ों को भी शिक्षित किया जाय।

(4) इनके अन्दर से हीनता के भाव दूर किये जायें।

इनके अन्य देवी-देवताओं में मुआ-म्लेक्ष, डिहवार, वनसत्ती तथा शिव हैं, जिन्हें ये बलि चढ़ाकर अपने अनुकूल रखते हैं। इन देवी-देवताओं को ये ठर्रा भी चढ़ाते हैं। खसी (भेंड़ा) चढ़ाकर उसका प्रसाद प्राप्त करते हैं। नयी पीढ़ी का बलि में विश्वास कम होता जा रहा है। ये वृक्षों में सेमल की पूजा सेमरहवा बाबा कहकर, पीपल की पूजा पिपरहवा बाबा कहकर, नीम की पूजा निबिया भवानी कहकर तथा पशुओं में बाघ की पूजा बघउत बाबा के नाम पर करते हैं। गंगा दशहरा पर गंगा और नागपञ्चमी पर नाग देवता की पूजा भी करते हैं।

पठारी आदिवासियों की वह जाति है, जो पठार पर बसती और वहीं खेती-बाड़ी करती है। पठार पर बसने के कारण ही इनकी जाति का नामकरण पठारी हो गया होगा। इनकी भाषा पर भी उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। वे शब्दों का उच्चारण खींचकर करते हैं। "का ऽ ऽ करबे रे ऽ ऽ ऽ।" कहाँ जाबी ? "खावी ऽ" आदि वर्तमान कालिक क्रिया में 'थ' का प्रयोग भी मिलता है, जैसे "जानी थऽ" "पढ़ी थ ऽ" "खाई थ ऽ" आदि। इसी प्रकार 'हमारे' के लिए 'हमनी' तुम लोग के लिए 'तोनहन' 'सब कोई' के लिए 'सभे' 'और' के लिए 'अउरो' का प्रयोग होता है। वे 'आप' या 'तुम' का प्रयोग नहीं करते, अपितु छोटा-बड़ा सबके लिए 'तू' 'तोर' 'तोन्हन' 'तोहनो' आदि का ही प्रयोग करते हैं।

पठारी जाति के गीत भाव प्रवण, कारुणिक तथा उनके जीवन से सम्बद्ध होते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"डाइन के मइ मुर्गी डेना,
काटइ के बसखारि हो रे ऽ ऽ ऽ।
मीजइ के रहरी क दाना,
ठोंकइ के खेवई कुवार हो रे ऽऽऽ,
मोरे कमवां से खूस मोरा छैला रे ऽऽऽ,
हँसि-हँसि पिढ़वा बईठि के खाला।
का करी देवरा हमार रे ऽऽऽ,
सइयां मोरा अंखिया समाला रेऽऽऽ।"

"यानी "मुर्गी का डेना" (पङ्ख) फेंकना, बसवार काटना, अरहर का दाना मींजना और कुवार की संवई ठोंकना ही हमारा काम है। यह सब करने से मेरा पति खुश रहता है, वह हँस-हँस कर पीढ़ा पर बैठकर खाता है तो मैं देवर के आंख कीं किरकिरी बन जाती हूं। फिर भी मुझे तो मेरे प्रियतम ही आंख सुहाते हैं।"

पठारी जनजाति का जीवन संघर्षमय, उनकी संस्कृति भारतीय परंपरा के अनुरूप तथा उनका साहित्य समृद्ध है, जिसमें उनके जीवन के चित्र अंकित हैं।

बैगा

आदिवासियों में बैगा या बइगा उस जाति या वर्ग के लोगों को कहा जाता है जो पूजा-पाठ करते-कराते हैं तथा किसी परिवार में प्रेत-बाधा आने पर ओझाई-देवाई, वर्षा, अकाल, भूत-प्रेत या दैवी आपदाओं की भविष्यवाणियां करते हैं। ऐसा माना जाता है कि गांव के बैगा को देवी या ग्राम-देवता इष्ट होते हैं। बैगागिरी पुश्तैनी पेशा है, बैगाओं को कमाई का शतांश या अल्पांश देना अनिवार्य होता है। बैगा शकुन-विचार का काम भी करते हैं।

एक गांव में एक पण्डित थे। उनका लड़का पानी में डूबकर मर गया। इसके पूर्व एक लड़की भी पानी में डूबकर मर चुकी थी। किसी ने कहा कि प्रेत-बाधा है। अब क्या था। ओरमौरा गांव के प्रसिद्ध बैगाओं को बुलाया गया। वे अगरबत्ती जलाकर जौ के दाने गिनने लगे। कहा गया कि प्रेत-बाधा होने पर थोपने वाली (प्रेत या टोना करने वाली) औरत नाचते-गाते सामने आ जायेगी और सारा हाल बयान कर जायेगी। लेकिन बैगा लोग रात भर जौ बराते रह गये जब वह औरत न आयी तो लोगों ने उन्हें मारने के लिए हाथ उठा लिये। एक औरत कहीं बाहर जा रही थी, उसकी पायल की आवाज सुनकर बैगाओं ने कहा—'बस आयी' और अपने मन से भविष्यवाणियां करने लगे "मैं इस स्थान की देवी हूँ। इस कारण अप्रसन्न हूँ। अभी एक बलि और लूँगी" आदि।

पर यह सब ढोंग था। बैगा लोग इसी प्रकार आदिवासियों को ठगते थे। यही कारण है कि अब इस ढोंग और अन्ध-विश्वास से लोगों का विश्वास हटता जा रहा है।

आदिवासियों के पुजारी चेरो, कोल, भुइहार हो सकते हैं, पर मांझी नहीं हो सकता। बैगा जनेऊ पहनते हैं। राजबैगा खरवारों की पूजा कराते हैं। कहीं-कहीं भुंइहार को भी बैगा कहते हैं। बैगा और चेरो में विवाह-सम्बन्ध हो जाता है।

धार्मिक विश्वास

'मीरजापुर गजेटियर' के अनुसार आदिवासियों का एक देवता सरगुजा के कुरसी नदी में रहता है जो पानी का देवता है और बैगा लोग उसकी इसलिए पूजा कराते हैं कि पानी बरसे और फसल अच्छी हो। बंका पहाड़ी पर महारानी देव (दानो) रहते हैं जो क्रोध के देवता हैं तथा जिनके असन्तुष्ट होने पर गांव में महामारियां आती हैं।

बैगा पूजा कराकर उनसे रक्षा कराता है। दुद्धी में कोटारानी, मिरगारानी तथा ज्वालामुखी भी हैं। बैगा इनकी पूजा कराता है। वह डर-डिहवार, काली, बरम, दुल्हादेव तथा बुद्धू बरहिया आदि की पूजा भी कराता है। घमसान बैगा का अपना देवता है, जिनकी पूजा वे स्वयं करते हैं।

बैगा ओझाई-देवाई, बलि आदि में विश्वास करते हैं। कौपीनधारी, काले-कलूटे पुराने बैगा इस कला में अधिक दक्ष माने जाते हैं। पर पढ़े-लिखे लोगों का बैगाओं पर से विश्वास हटता जा रहा है।

कार्य-व्यापार

पूजा-पाठ कराना तो बैगाओं का मुख्य कार्य है ही, अब वे खेती-किसानी भी करने लगे हैं। वे लकड़ी काट कर, पत्ता तोड़कर बाजार में बेचते हैं। अब उनमें से कुछ व्यवसाय भी करने लगे हैं। कुछ हलवाही-चरवाही करते हैं, बहुत उद्योग-धन्धों में नौकरी-चाकरी करने लगे हैं। इनमें से कुछ जो पढ़-लिख रहे हैं रूढ़िवादी विचारों और अंध-विश्वासों से मुक्त होकर अपना जीवन-स्तर उंचा करने के लिए प्रयत्नशील हैं। प्रौढ़-शिक्षा के प्रचार-प्रसार से कुछ बूढ़े भी अपने अन्दर परिवर्तन ला रहे हैं और ऐसा समझने लगे हैं कि इस धूरिया-मटिया में उनके बाल-बच्चों का जीना मुश्किल है। उन्हें आधुनिक समाज के अनुकूल बनना होगा। बैगा और भुइहार दोनों एक ही जाति के माने जाते हैं। देवचन्द भुइहार ने बताया कि उनकी भी सात कूरियां होती हैं। पटपरहा खलडर (पत्ते का छाता) बनाते-बेचते हैं। बसिहा, अमकोइया, चतरिहा, चननिहां कन्हंइहां अब सब काम कर लेते हैं, पहले सभी जंगल में रहते और तीर-धनुष ही से शिकार करते, घूम-फिर कर कन्द-मूल-फल एकत्र करते और उसी को खाकर पड़े रहते थे। अब थोड़ा बहुत पढ़-लिख कर नौकरी-चाकरी भी करने लगे हैं। अब 'जहां चारा वहीं है मारा।' मेहनत-मजूरी करके रुपये कमाते और सुखी रहते हैं। दिन भर काम के बाद रात में जब ये अपनी राम मड़इया में आते हैं तो 'करम यज्ञ' करते हैं, यानी करमा नाचते-गाते हैं।

मुझे छपका गांव में आयोजित एक समारोह में सम्मिलित होने का अवसर मिला। बियागड़नी का समय, रिम-झिम पानी बरस रहा था, किन्तु नर्तक-नर्तकियों के दल आमने-सामने नृत्य का उपहार लिये एक अजीब मुद्रा में खड़े दिखे। मादल की थाप पर सबके पांव एक साथ थिरक उठे। गीत की पंक्तियां गूंजने लगी--

"नाधली नाग भंइसा,
बरदन क लेखा नाहीं,
बछवन के कवन भरोसा,
नाधा ले माल बाध,
जोतई कहइं हमके।
खोदि दिहली जदाबदा,
त काटइ धावइ हमके,
आन लेहन बरवियाही,
अरफिन के लेखा नाहीं,
उढ़रिन के कवन भरोसा।।
उढ़री कराना
हम बियाही छोड़ली।
तिरिया कराना,
हम पहाड़ी डेरा डाल।।"

चौथा अध्याय
आदिवासियों का सांस्कृतिक जीवन
आदिवासी मेले

एक बार मुझे भी मेला देखने का शौक चर्राया, वह भी देहाती। मैंने अपने साहित्यिक मित्र श्री शेख जैनुल आब्दीन को पत्र लिखा—"भाई, तीन मार्च को शिवरात्रि पड़ रही है, हम लोग किसी आदिवासी क्षेत्र का मेला देखने चलें। अच्छा हो कि हम लोग गोठानी का मेला देखें। वहाँ बहुत सारी नयी बातें देखने में आयेंगी। गाँव की प्रथाओं, परम्पराओं से हम परिचित होंगे। आप उस दिन, ग्यारह बजे दिन चोपन में मेरी प्रतीक्षा कीजिएगा; मैं निश्चित आऊँगा।"

उन्हें मेरा पत्र मिल गया, उनकी स्वीकृति भी मुझे प्राप्त हो गयी। मैं तीन मार्च की प्रतीक्षा करने लगा। तीन मार्च भी आ गया, किन्तु उस दिन अनायास ही आकाश में बादल छा गये। हम लोगों का कुछ फोटोग्राफी का भी लक्ष्य था। बादल छाये रहने पर साधारण कैमरे से फोटो खींचा जाना सम्भव न था। लगा, जैसे ये बादल हमसे ईर्ष्या करके मजा किरकिरा करने पर ही तुले हों। फिर भी, दस बजते-बजते मैंने राबर्ट्सगंज से बस द्वारा प्रस्थान किया और एक ही घंटे में चोपन पहुँच गया। चोपन बैरियर पर बस रुकी तो देखा पच्चासों की संख्या में दरिद्रनारायण हाथ में एल्युमुनियम का कटोरा लिये खड़े हैं। काले-कलूटे, पिचके गाल, नंग-धड़ंग या केवल बिहटी लगाये ये इधर-उधर से गुजरने वाली बस, ट्रक, टैक्सी के रुकने पर सवारियों के सामने हाथ पसारते हैं। ये यहाँ के आदिवासी हैं। मैं दूर से देखता हूं शेख साहब इन्हीं के बीच खड़े हैं—शायद कहानी का प्लाट बनाने के चक्कर में, उनके साथ सुधेंदु पटेल तथा छायाकार एस० अतिबल भी।

मैं उनसे मिलता हूं और दुआ सलाम के बाद हम हास्पिटल की ओर बढ़ जाते हैं। वहाँ भाई लाल बहादुर सिंह भी मिल जाते हैं। अब हम फक्कड़ नदी की ओर बढ़ने लगते हैं। नदी में कई नावें चलती दिखलाई पड़ती हैं। सब पर भीड़ है। सभी मेले की ओर जा रही हैं। हम भी एक नाव पर बैठ जाते हैं। नाव मंथर गति से आगे की ओर बढ़ने लगती है। नाव पर कुछ गाँव की स्त्रियाँ भी बैठी हैं। वे **'सोने की थारी में जेवना परोसेउँ जेवइं किसुन कन्हइया'** गीत का बोल गा रही हैं। हवा के झोंके वाद्य-यंत्र का काम करते हैं। कगार के वृक्षों पर बैठी चिड़ियाँ स्वर में स्वर मिला रही हैं।

नाव धीरे-धीरे-आगे बढ़ रही है। हवा उल्टी है। दस वर्ष का एक बालक नाव की डोर पकड़ कर आगे-आगे खींचता चला जा रहा है। वह हम सैकड़ों आदमियों

का बोझ अकेले ही खींच रहा है। काश! हर आदमी अपना बोझ खींचने का अभ्यासी हो जाता। मैं उसके पिता से जो नाव चला रहे हैं, पूछ बैठता हूं—'यह पढ़ता नहीं है ?'

'नहीं सरकार, पढ़ेगा तो पेट कैसे भरेगा ?'

'तुम लोगों की जाति में कोई यहाँ पढ़ा-लिखा है ?'

'नहीं, सरकार एक लड़को आठ तक पढ़ा है। वह नौकरी खोज रहा है। नौकरी तो मिलती नहीं, घर का भी काम नहीं करता। इसीलिए हम लोग लड़कों को नहीं पढ़ाते हैं।'

नाव अब गोठानी पहुँचने ही वाली है। हम लोग दो घंटे चलकर पाँच मील की यात्रा पूरी कर चुके हैं। मेले की भीड़ दूर से ही दिखलाई पड़ती है।

थोड़ी ही देर में नाव किनारे लग जाती है। हम नाव से उतर कर मेले में चले जाते हैं। मेले में काफी भीड़ है। सामने एक जटाधारी साधु मिलते हैं, उन्हें कुछ स्त्रियाँ हाथ दिखला रही हैं, शायद वे ज्योतिषी भीं हैं।

गुप्त काशी

थोड़ा आगे बढ़ने पर हम मन्दिर के समीप पहुँच जाते हैं। बाबा विश्वनाथ के मन्दिर में काफी भीड़ है। कुछ लोग जल चढ़ा रहे हैं तो कुछ लोग अक्षत और पैसे। कुछ लोग मिठाइयाँ भी चढ़ा रहे हैं और होम-हवन भी कर रहे हैं। सत्य नारायण की कथा सुनने वालों की संख्या भी कम नहीं है। एक ओझा ओझाई भी कर रहा है। हम लोग भी भगवान का दर्शन करते आगे बढ़ जाते हैं। इसे कुछ लोग गुप्तकाशी कहते हैं।

एक वृक्ष के नीचे भारी भीड़ दिखलाई पड़ती है। हम लोग भी उसी ओर बढ़ जाते हैं। भीड़ चीरते हुए जब अन्दर घुसते हैं, तो एक 'लवण्डा' नाचता हुआ दिखलाई पड़ता है। उसके समाजी ढोल, सारंगी और सितार का वादन कर रहे हैं। लवण्डे का नाच इस क्षेत्र में बहुत प्रचलित है। उसके एक-एक गाने पर लोग मुग्ध हो उठते हैं। उसको पुरस्कार के रूप में बीस-पचीस रुपये आसानी से मिल जाते हैं।

हम लोगों ने देखा, वह नोटों की माला पहने हुए था। कुछ नोट उसके बालों तथा ब्लाउज में पिन से लगा दिये गये थे। उसका रंग पक्का था तथा उसकी अवस्था भी पचीस वर्ष से कम की न थी।

अब हम लोग कुछ और आगे बढ़ते हैं तो स्त्रियों का झुण्ड दिखलाई पड़ता है। बूढ़ी स्त्रियों के साथ युवतियाँ भी हैं। एक दुकानदार डण्डे में बाँधकर गथना, चोली

माथे की गुरिया आदि वस्तुएँ बेच रहा है। युवती स्त्रियाँ, कुछ वय:सन्धि की बालाएँ तथा किशोरियाँ भी उसे चारों ओर से घेरे हुए हैं। एक स्त्री एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रखे हुए है और हाथ से किसी वस्तु विशेष की ओर संकेत कर रही है। शायद वह गथना या चोली खरीदना चाहती है, खरीदने में स्वयं लजा रही है। एक स्त्री दुकानदार से मोलचाल कर रही है। दुकानदार उससे कुछ मजाक की टोन में बातें कर रहा है।

हम लोग थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तेलहिया जलेबी की कई दुकानें दिखलाई पड़ती हैं। भारी भीड़ है, दुकानदार को सामान बेचने में पसीना छूट रहा है। गाँव के छोटे-छोटे बच्चे आज के दिन इसे भर पेट खाना चाहते हैं, किन्तु इस वर्ष तो अकाल पड़ गया है। बहुत रोने-धोने पर उनके माँ-बाप दो-चार आने की जलेबी उन्हें खरीद देते हैं। लाई-ककनी तथा चिनिअहिया मिठाई की दुकान पर भी उससे कुछ ही कम भीड़ एकत्र है।

देखते-ताकते हम और आगे बढ़ जाते हैं। इधर लोहा, वर्तन, चूड़ी, लहठी, कपड़ा तथा विसातबाना की दुकानें लगी हुई हैं। लोग अपने-अपने काम की वस्तुएँ खरीदते में जुटे हुए हैं। आगे टायर की चप्पलें बिक रही हैं। फिर बेर की दुकानें दिखलायी पड़ती हैं। हम लोग कुछ बेर खरीदकर खाने लगते हैं।

मेले में भी उदास चेहरे

आगे कुछ मनहूस चेहरे दिखलायी पड़ते हैं। ये आदिवासी हैं। ये न तो कुछ खरीदते हैं, न मेला ही घूम कर देख रहे हैं और न कुछ किसी से बातें ही कर रहे हैं। इनके चेहरे पर मेले की रौनक नहीं है। ये सिर पर हाथ रखे म्लान बैठे हैं; मेले से बाहर। इनमें कुछ खरीदने की ललक क्यों नहीं है? क्या इनके पास पैसे नहीं है? ये अपने बच्चों के लिए क्या कुछ खरीदने में असमर्थ हैं? आखिर बात क्या है, यह जानने के लिए मेरा जी कचोटता है। मैं उनसे कुछ बातें करने के लिए आगे बढ़ता हूँ तो वे मेरी उपेक्षा कर जाते हैं। वे आपस में कुछ भुनभुनाने लगते हैं और मैं भी दो-एक प्रश्न कर के उत्तर न मिलने के कारण चुप हो जाता हूँ। मेरे मन में भी आता है कि शायद मेरे 'बिराने' से वे चिढ़ रहे हैं।

अगोरी का किला सामने दिखलायी पड़ रहा है। उधर ही भीड़ बढ़ती दिखलाई पड़ रही है। हम भी उसी भीड़ में सम्मिलित हो जाते हैं। भीड़ में डूबे हम लोग आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। बालुका राशि पर पाँव रखते हैं तो पाँव आगे बढ़कर दो-तीन इंच पीछे खिसक जाते हैं। जौ-चना-गेहूँ की फसलें दिखलाई पड़ती हैं, आगे अरहर की डालियाँ लहरा रही हैं। इन पर एक बार पत्थर पड़ चुका है। किसान कहते 'ये हरी है, पर इनमें दाना नहीं है।'

अगोरी का आदिवासी किला

आगे एक टीला और टीले पर पुराना खण्डहर दिखलाई पड़ता है। लोग इसे 'लोरिक की पहरी' कहते हैं। कभी का यह किला था और अब खण्डहर हो चुका है। वहाँ पहुँच कर हम उसे देखते हैं। लगता है, जैसे वह हमसे बातें कर रहा हो, अपनी अतीत की कहानियाँ सुना रहा हो। यहाँ बस हम चार ही व्यक्ति हैं। हमारे लिए यह कुछ हो सकता है, पर औरों के लिए यह कुछ नहीं है। इधर कोई झांकता भी नहीं। हर पुरानी चीज की उपेक्षा हमारा स्वभाव बन गया है।

खण्डहर के आगे अगोरी की बाजार दिखलायी पड़ती है। यह बड़ी पुरानी बाजार है। इसका नाम लोकगीतों में भी आता है। कभी यहां बावन खण्ड की बाजार लगती थी; आज मुश्किल से चार-पाँच दुकानें हैं। एक दुकान शराब की है, जहाँ सबसे अधिक भीड़ एकत्र है। बोतलें खनक रही हैं। इस दुकान का लाखों रुपये का ठीका होता है। यहाँ के लोग पीने में बहुत तेज हैं। पूरा-का-पूरा परिवार शराब का आदी है। यहाँ भोजन से भी अधिक आवश्यक वस्तु शराब है। मेहनतकश मजदूर दिन भर काम करते और जो भी कमाते रात को शराब पी जाते हैं। आज तो मेले का दिन है, उनकी मस्ती का दिन, आज वे क्यों नहीं पीयेंगे। अनेक पीकर लोट रहे हैं, अनेक अचेत किसी झाड़ी में गिरे पड़े हैं, अनेक अभी पीने के लिए उतावले हैं।

अब खरवारों के अगोरी किले की ओर हम लोग बढ़ने लगे हैं। सामने का प्रवेश द्वार कितना विशाल है। इससे कसा कसाया हाथी निकल सकता है। पत्थरों के स्तम्भ प्राचीनता की कहानी कह रहे हैं। दरवाजे के बायीं ओर देवी दुर्गा की कलात्मक मूर्ति किले की दीवार में जड़ी हुई है। यह बहुत पुरानी मूर्ति है। देवी बहुत जागरूक है। इसी देवी की पूजा अहीरों के लोक नायक वीर लोरिक करते थे। दाहिनी ओर सैनिकों की सुन्दर मूर्तियाँ बनायी गयी हैं।

देवी की मूर्ति को प्रणाम कर हम आगे बढ़ जाते हैं। बिना प्रणाम किये आगे नहीं बढ़ सकते हैं। क्योंकि बिना प्रणाम किये आगे बढ़ना खतरनाक भी रहता है। एक बार बहुत पहले हम लोग यहाँ आये थे, बिना प्रणाम किये ज्यों ही अन्दर प्रवेश करना चाहा कि अन्दर शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी और लोग पीछे की ओर दौड़ पड़े। कुछ लोगों को चोट भी आयी थी; लोगों ने कहा था, 'आप लोगों ने जूता उतार कर देवी को प्रणाम नहीं किया, इसलिए उनका वाहन आप लोगों पर झपट पड़ा।' वह घटना मुझे याद थी।

दुर्ग के अन्दर प्रवेश करने पर गिरे हुए खण्डहर दिखलाई पड़े। दीवारें क्षत-विक्षत हो चुकी थीं। सामने कोठरियाँ थीं, जिनमें अन्धेरा छाया हुआ था। उनके अन्दर झांकने में भय लगता था। लोगों ने बताया कि अन्दर से भुइनास है। इन कोठरियों में अथाह सम्पत्ति छिपी पड़ी है। एक बार कुछ ऊँटहार यहाँ आये थे। वे यहाँ कुछ दिन

तक रुके भी थे। खुदाई करके काफी सम्पत्ति यहाँ से ले गये थे। अब भी काफी सम्पत्ति यहाँ छिपी पड़ी है।

टूटते गढ़

यहाँ बीसों कोठरियाँ बनी हुई हैं। कुछ की छतें गिर चुकी है, कुछ की गिरने वाली हैं, कुछ की काफी मजबूत भी हैं। दीवारें काफी मोटी तथा मजबूत हैं। दरवाजों में लगे पत्थरों की नक्काशी देखने योग्य हैं। दरवाजों पर लगे पत्थर बहुत मजबूत हैं। इनमें से बहुत गायब भी हो चुके हैं, गायब होते जा रहे हैं। जहाँ हम खड़े हैं, दुर्ग दो छतों में बना है। छतों की स्थिति बिगड़ती जा रही है।

हम लोग पीछे लौट आते हैं और बायें हाथ की ओर बढ़ने लगते हैं। किले की दीवारें काफी दूर तक दिखलाई पड़ती हैं, पर हम लोग पुनः दाहिनी ओर मुड़ जाते हैं। यहाँ से आश्चर्य कूप दिखलाई पड़ता है यह काफी गहरा है। इसका सम्बन्ध अन्दर ही अन्दर सोन नदी तक बताया जाता है। राजा-रानी इसी कूप में स्नान करने जाया करते थे। इसी कूप के मार्ग से होकर वे सोन नदी तक भी पहुंच जाते थे।

आगे बढ़ने पर राजा की कचहरी दिखलायी पड़ती है। यह भग्नावशेष है। छत गिर चुकी है। हाल बहुत बड़ा दिखलायी पड़ता है जहां सैकड़ों आदमी एक साथ बैठ सकते हैं। राजा के बैंठने का अलग स्थान बना है। पहरेदारों के लिए भी अलग स्थान बने हैं। कचहरी दो छतों की रही होगी, क्योंकि ऊपर जाने के लिए बगल में सीढ़ी भी बनी हुई है। यह कचहरी दुर्ग के बीच में अत्यन्त सुरक्षित स्थान पर बनी है। यहां से दूर तक सोन का दृश्य दिखलायी पड़ रहा है।

आगे दुर्ग का दूसरा परकोटा दिखलायी पड़ता है। इसकी बाहरी दीवार काफी ऊँची है। कोने से छत गिरती जा रही है। इसके अन्दर चारों ओर बरामदे तथा कोठरियां बनी हुई हैं। बरामदों की छतें गिर चुकी हैं। दीवार में चारों ओर स्थान-स्थान पर तीरंदाजी के लिए स्थान बने हुए हैं। इनके अन्दर से चोपन तक का दृश्य दिखलायी पड़ता है। यहां सैनिक निशाना साध कर बैठते रहे होंगे और दुश्मन को दूर से ही देखकर अपनी गोली का निशाना बनाते रहे होंगे।

नीचे एक बहुत बड़ा हाल है। यहां हजारों व्यक्ति एक साथ बैठ सकते हैं। सम्भवतः यही राजा की बड़ी कचहरी लगती रही होगी। इसके नीचे भी इतना ही बड़ा एक और हाल होने का अनुमान किया जाता है।

पीछे की ओर एक आंगन दिखलाई पड़ता है। इसी भाग में किले का दूसरा द्वार पीछे की ओर बना हुआ है। यहां भी दुर्गाजी की एक सुन्दर और कलात्मक मूर्ति प्रतिष्ठापित है। इस देवी को भी बहुत जागरूक बताया जाता है। देवी की पूजा करने के लिए यहां लोग दूर-दूर से आते हैं। बलि प्रथा भी कभी प्रचलित थी। देवी की मूर्ति के सामने एक टीला है जिसे लोग वीरों का अखाड़ा कहते हैं।

दुर्ग की स्थिति बहुत अच्छी है। पूरब सिंह-द्वार है, उसके कुछ दूरी पर खाइं है। पश्चिम भी खाईं खोदी गयी है तथा एक नाला भी बहता है जो सोन में आकर मिल जाता है। उत्तर की ओर से सोन की धारा बहती ही है। दक्षिण में उधुवा का नाला स्वयं खाईं बनाता है। इस तरह दुर्ग का निर्माण काफी सुरक्षित स्थान पर किया गया है। यह दुर्ग चन्देल राजाओं द्वारा बनवाया गया है।

लाल रंग का पहाड़

दुर्ग से निकलकर हम लोग नदी की ओर बढ़ने लगते हैं। यहां गेरू का पहाड़ दिखलाई पड़ता है। यह बिल्कुल लाल रंग का पहाड़ है। लोगों ने बताया कि यहां भयंकर युद्ध हुआ था। लाखों वीर तलवार की धार उतारे गये हैं। ये पत्थर उन्हीं वीरों के निशान रूप में यों आज भी विद्यमान हैं।

कुछ और आगे बढ़ने पर सोन नदी की धारा में एक हाथी की शकल का पत्थर दिखलायी पड़ता है। इसे लोग 'कर्ममिल' हाथी बताते हैं और जिसका 'मिर्जापुर गजेटियर' में भी उल्लेख हुआ है। यह उस समय के राजा मोलागत का हाथी था, जो लोरिक द्वारा मारा गया था।

यह सब देखते-ताकते संध्या का समय हो जाता है। गांव के रईस श्री बैजनाथ के आग्रह पर हम उनके दरवाजे पर चले जाते हैं।

सूर्य दुर्ग के पीछे से झांकने लगता है। उसकी सिन्दूरी किरणें मन्दिरों के शिखरों पर नाचने-थिरकने लगती हैं। सोन की धारा भी रक्ताभ तथा वृक्षावलियां पीताभ हो जाती हैं। पक्षियों का कलरव सम्पूर्ण वातावरण को झंकृत कर देता है। हम नाव पर बैठ जाते हैं और नाव धीरे-धीरे चोपन की ओर बढ़ने लगती है। भारी भीड़ पीछे छूट जाती है; उसी के साथ मन्दिर और किले भी पीछे छूटते जा रहे हैं। साथ बचती हैं स्मृतियां जो शायद कभी नहीं छूटेंगी। अब हमारी आदिवासी क्षेत्र की सांस्कृतिक यात्रा पूरी हो जाती है।

•

विंढमगंज का मेला

पहले लगनेवाले मेलों-ठेलों का अपना अलग रंग-ढंग था। सप्ताह में किसी एक दिन किसी स्थान विशेषपर बाजार लगते थे जहां आवश्यकता की सभी वस्तुएं मिल जाती थीं। आदमी की इतनी आमदनी थी कि उससे एक साथ कम-से-कम एक सप्ताह के लिए सामान खरीदने की क्षमता तो होती ही थी। अच्छे गृहस्थ तो चार-चार महीने के लिए वस्तुएं खरीद कर रख लेते थे।

"लेकिन अब ऊ जमाना गुजर गया बाबू ! तब दमड़ी की हड़िया, अधेले का नून-गुड़, आने-दो आने का राशन और चवन्नी के कपड़े से काम चल जाता था। अधन्नी का तेल और दुअन्नी का घी एक सप्ताह चल जाता था। रुपया मन चावल और रुपया सेर घी मिलता था। तब आदमी खाता था, दण्ड मारता और मस्त रहता था। कहावत थी कि—

"ऋण कइ सोच न धन कइ सोच, एही से धमधूसा मोर।"

बुद्धू ने यह बात मिर्जापुर जिले के विंढमगंज में कही थी, जहां आज भी सोमवार को साप्ताहिक बाजार लगती हैं। किन्तु सचमुच तब और अब में जमीन-आसमान का अंतर हो गया है। बुद्धू जाति के कोल है। तब वे सोमवार को एक भार लकड़ी काट कर ले आते थे। उससे इतना पैसा मिल जाता था कि नून, गुड़, तमाखू आदि वस्तुएं सप्ताह भर के लिए खरीद लेते थे। उनका कहना है कि अब वे पूरे परिवार, उनकी बुढ़िया, तीन जवान बेटे, दो नाती सभी लकड़ी लाद लाते हैं, पर उससे जो सामान खरीदते हैं, वह तीन दिन भी नहीं चलता। रात-दिन कमाते हैं पर दिया भर का दीया भर ही रह जाता है। पेट पालना कठिन हो गया है। कहावत सही है—'रात भर चिचियानी, बच्चा एक न बियानी।'

पाठकों को जान लेना चाहिये कि बुद्धू चालीस वर्ष पहले लकड़ी काटते और उससे पेट पालते थे और स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग चार दशक बाद भी उसी तरह का जीवन जी रहे हैं।

विंढमगंज, दुद्धी, कोन के शासक विढ़ंम साहब के समय से लग रहा है। यहां के सभी कार्यालय तथा विद्यालय उस दिन बन्द रहते हैं। बाजार में तब हाथी तक का सौदा हो जाता था, अब भी गाय, बैल बकरी से लेकर छोटी-से-छोटी वस्तु तक बिकती है। भीड़ इतनी ठेलमठेल होती है कि देह से देह छिल जाती है। नाच-गाने भी होते हैं। बिहार तक के व्यापारी आते और एक ही दिन में हजारों रुपये के सामान बेच जाते हैं। झुण्ड के झुण्ड स्त्री-पुरुष गाते-बजाते आते हैं बाजार के सामान खरीदने। वे सोचते हैं बाजार लूटने की बात पर स्वयं लुट कर चले जाते हैं। यानी उतनी बाजार में एक का दो देकर चले जाते हैं।

इन बाजारों में क्रेता को सामान खरीदने की और विक्रेता को सामान बेचने की गरज होती है। इसलिए दोनों में गहरी प्रतियोगिता होती है। जीतता वही है जो चालाक होता है। हारता है गरीब, आदिवासी जो मोलचाल के तौर-तरीकों से भी अनभिज्ञ रहता है। वह निरीह होता और ठगा जाता है।

विंढ़मगंज, दुद्धी, कोन के बाजार पुराने हैं। नये बाजार है औद्योगिक प्रतिष्ठानों के जैसे ओबरा, डाला, पिपरी, रेणुकूट, कोटा, बीना, अनपरा।

इन स्थानों में प्राय: रविवार को बाजार लगते हैं। क्योंकि शनिवार या रविवार को ही मजदूरों को एक सप्ताह की मजदूरी मिलती है। एक सप्ताह वे कोल्हू के बैल की तरह रात-दिन काम करते हैं। रविवार को भुगतान पाने पर सज-संवर कर बाजार करने जाते हैं। अपनी आवश्यकता की वस्तुएं वे खरीदते हैं, चाहे महंगी मिलें चाहे सस्ती। तरह-तरह की दुकानें सड़कों की पटरियों पर लगती हैं। दोपहर तक दुकानें लगती और शाम तक मात्र चार-पांच घण्टों में झर्र हो जाती हैं। सचमुच कौड़ी से मोहर तक की बिक्री हो जाती है एक ही दिन में। कई ट्रक गल्ला बिक जाता है तो हजारों रुपये की लकड़ी और दातून भी बिक जाती है।

दातून विक्रेता भोनुवां एक तन्दुरुस्त आदमी है। कनढ़ट्ढा बांधे है। एक और दातून बेचने के लिए ले आया है। मैं उससे बात का सिलसिला चलाता हूँ।

"कहां से आये हो भोनू !"

"सलखन से।" कुछ डरते और सहमते हुए बताता है।

"कितनी दूर है ?"

"पांच कोसे होई।"

"कब चले थे कि यहां इतना सबेर आ गये। ?"

"अधिरतिया।"

"कितना कमाओगे दतुवन से।"

"ईहे तीन-चार रुपिया।"

"क्या खरीदोगे उस रुपये से ?"

"नून, गुड़, तमाखू, सुरती, तेल अउर का ?" कुछ झुझलाते हुए बोलता है।

"और दुलहिया के लिए.........."

"कहां आंटी जे......" मुस्कुराते हुए कहता है।

"ऊ क्या करती है ?"

"लवन-बिनिया।"

"बेटा।"

"चरवही।"

भोनू मस्त है। रोज कुआं खोदता रोज पानी पीता है।

यहां एक सत्तर वर्षीया बुढ़िया पत्ता बेच रही है। एक दूसरी सेम बेच रही है। तीसरी दो किलो बेर लेकर बैठी है। इनमें से किसी की बिक्री चार-पांच रुपये से अधिक की नहीं होगी। यही कुछ बड़े व्यापारी भी हैं जो हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, राजस्थानसे लोटा लेकर आये थे, अब वे लाखोंके मालिक हैं। कैसे ? इन्ही लाचारों-बेचारोंका शोषण करके। एकका तीन करके।

यहां एक राबर्ट्सगंजका व्यापारी आया था। जिस जेबमें हाथ डालता रुपयोंके बंडल निकलते थे। कैसे? बीस आने किलो गेहूँ खरीदकर लाता तो यहां ढाई रुपये तक बेचकर चला जाता, इन गरीबोंका शोषण करके।

यहां एक बाजार रेणुकूटमें लगती है। रेणुकूट यानी बिड़ला की फैक्ट्री। अलमुनियम फैक्ट्री। इस क्षेत्र में हजारों मजदूर काम करते और झुग्गियोंमें रहते हैं बिड़लाके कर्मचारी, अधिकारी बंगलों, क्वार्टरोंमें। सुनते हैं कुछ अधिकारी ऐसे भी हैं जिनके लिए एक कार नित्य फल-फूल खरीदनेके लिए बनारस जाती है। सुना था, एक इंजीनियर साहब थे वे जिस ब्लेड से दाढ़ी बनाते थे, यहांकी किसी बाजार में उपलब्ध न थी, तो उनकी गाड़ी ब्लेड खरीदनेके लिए बनारस गयी थी। फिर अगर कोई आदिवासी नून-गुड़ खरीदने सलखनसे ओबरा आता है, तो इसमें आश्चर्य क्या? सचमुच दक्षिणांचलके ये बाजार अब अपनी पहचान छोड़ते जा रहे हैं।

•

आदिवासियों में टोना-टोटका

शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक मैकबेथ में चुड़ैलों के टोने-टोटके का रोमांचकारी चित्रण है। मध्यकालीन यूरोप में टोनही या जादूगरनी होने के सन्देह में बूढ़ी औरतों की हत्या आम बात थी। इधर इंगलैण्ड, अमेरिका में काले जादू या शैतान पूजा के गुप्त सम्प्रदायों का पता चला है। जादू-टोने, भूत चढ़ने की कथा पर बनी अमेरिकी फिल्म–द एक्सारसिस्ट–बड़ी प्रसिद्ध है। आइए आदिवासियों के टोना-टोटका के बारे में भी जानें।

उस दिन शिवद्वार से गुजरते हुए मनफेर गोड़इत (चौकीदार) की आंखें सहसा एक युवती की आंखों से टकरायी थीं और मनफेर मूर्छित होकर गिर पड़ा था। आसपास के लोगों ने उसे गिरते-बेहोश होते और मुख से झाग निकालते देखा था। उसे होश में लाकर लोगों ने पूछा था–'क्या बात थी? क्यों गिर पड़े थे?'

वह मौन था और उसने पास के घर की ओर इशारा किया था। उस घर की फुलवा अपने टोने के लिए पूरे क्षेत्र में बदनाम थी। मनफेर स्वस्थ होकर सीधे थाने गया था। दरोगा जी को सारा वृत्तान्त कह सुनाया था। दूसरे ही दिन दरोगा जी दो सिपाहियों के साथ पहुँचे। तहकीकात के उपरान्त दरोगा जी फुलवा को थाने पर ले गये थे। उन्होंने डरा--धमका कर पूछा--'बताओ, तुमने टोना कैसे किया।'

पहले तो वह डरी, फिर साहस बटोर कर बोली--'बाबू, केकरा पर टोना मारीं।'

अंत में वह बोली—'बाबू देखऽ, दूठे कोंहड़ा, खपड़ा पर देखात बा।' इतना कह कर वह कोंहड़े की ओर घूरती हुई पुनः बोली थी—

'केतना सुन्नर बा'

उसका इतना कहना था कि देखते ही देखते...... सहसा दोनों कोंहड़े टूट कर जमीन पर गिरकर छितरा गये थे। ऐसी घटनाओं के साक्षी मात्र घोरावल (मिरजापुर) थाने के दरोगा तिवारी जी ही नहीं, और भी कई प्रबुद्ध जन हैं।

हरे पेड़ झुलसते-आंखों की लौ से

पिछले ही दिनों जब मैं इस सिलसिले में अगोरी गया था, तो वहां भी बैजनाथ जी ने मुझसे ऐसी ही कई एक आंखों देखी घटनाओं का जिक्र किया था। मुझे क्या पता था कि पद-चिन्हों को देखकर भी टोनहिनें टोना कर देती हैं। बैजनाथ जी ने बताया कि एक के पदचिन्हों की मिट्टी लेकर समुन्दरी ने उस पर ऐसा टोना किया कि उसकी एक आंख ही जाती रही। उनके बड़े बेटे जगदीश पर एक टोनहिन ने टोना किया तो वे मरते-मरते बचे, बगई—गुड़ पिलाने की नौबत आ गयी फिर ओझाई-देवाई के बाद ही ठीक हुए। वह मात्र सरसों और राख के सहारे टोना करती थी। उसने इसी क्रिया द्वारा रामदास पण्डित के तीन जवान पुत्रों को पागल बना दिया था। यह पता लगने के पूर्व ही कि किसने टोना मारा था, टोनहिन मनीजरी मर गयी, वे तीनों आज भी पागल बने घूमते हुए देखे जा सकते हैं। बातचीत में चिचली पनौका की वह घटना भी याद आयी जब वृक्षों को चिचली से पनौका जाकर जमते हुए देखा गया था। बताया गया कि ऐसा कई बार गांव की टोनहारिने कर चुकी हैं। इतना ही नहीं, गांव के लोगों के देखते-देखते हरे पेड़ को झुलस कर झड़ते और बाद को पुनः हरिआते देखे जाने का भी उल्लेख किया गया। कहते हैं, बंगाल से लौटा यहीं का एक पण्डित टोना के बल पर कभी हथेली पर जौ जमा देता और कभी फूल फेंककर ही मिठाइयां पैदा कर बच्चों को बांट देता था। कथाओं का यह अन्तहीन सिलसिला वनांचल के आदिवासियों के बीच आज भी जारी है।

अब हमने ओझा कत्थी खरबार से पूछा—'क्या टोना पाप होता है?' तो उसने बिफरते हुए कहा—'टोना पाप होता है, लेकिन पाप की बात जानकर आप क्या करेंगे? अच्छी बात जानो जो तुम्हारे बाल—बच्चों के काम आये।'

टोना स्त्री ही करती है, किन्तु कोई भी स्त्री अपने को टोनहिन कहलाना नहीं चाहती। टोने का सम्बन्ध टोना जानने वाली स्त्री के प्राण से हुआ करता है। अगर कभी वह टोने का भेद खोल दे तो वह उसके लिए जान-लेवा होता है। इसीलिए टोनहिन स्त्री, किसी भी दशा में अपना सुई—डोरा किसी अन्य को नहीं देती। पकड़े

जाने पर मारमीट के भय से टोना खींच लेती है लेकिन अपराध स्वीकर नहीं करती ।

टोना जागे–भूत भागे

दीपावली की मध्य रात्रि में टोना जगाने की प्रथा आज भी प्रचलित है । उसी दिन गांव के बाहर एकान्त स्थान पर स्त्री निर्वसन होकर टोना सीखती, सिद्ध करती और ताजा करती है । सिद्धि की प्रक्रिया में सात सुई और डोरा प्रयोग में लाया जाता है । स्त्री टोने का पहला मन्त्र पढ़कर रात्रि के निविड़ अन्धकार में सुई के सूराख में डोरा डालती है । दूसरा मन्त्र पढ़कर अपने इष्ट देवी-देवता या पिशाच का आवाहन करती है । जब उस पर इष्ट का पूर्ण 'आसेव' हो जाता है तो वह तीसरा मन्त्र पढ़कर सुई को अपने गुप्तांग में प्रवेश कराती है । मन्त्र के प्रभाव और इष्ट की कृपा से जब सातों सूइयां विना किसी प्रकार की पीड़ा और रक्तस्राव के प्रवेश कर जाती हैं तो टोना सिद्ध हो जाता है । टोना सिद्ध हो जाने के बाद वह स्त्री डोरे की सहायता से, सातों सुइयों को एक-एक कर निकाल लेती है । टोना सिद्ध करने के बीच, अगर कोई व्यवधान, पीड़ा या रक्तस्राव हो तो टोना असफल समझा जाता है । फिर उसे सारी प्रक्रियाएं पुनः करनी पड़ती हैं । टोने का मंत्र सिद्ध कर लेने पर वह स्त्री निविड़ अंधकार में अपने इष्ट देवी-देवता और पिशाच को विशिष्ट आवाज में एकबार पूरी शक्ति के साथ चित्कारती हुई किसी भी दिशा में दौड़ पड़ती है । उस वक्त ऐसा लगता है कि जैसे उसके भीतर कोई अति मानवी शक्ति आ गयी हो और वह उस विक्षिप्तावस्था में लाल आँखों, बिखरे बालों के कारण दानवी बन गयी हो । कहते हैं जब वह चिल्लाकर दौड़ रही होती है, उस समय साहस कर अगर कोई उसके केश पकड़ ले, तो वह स्त्री उसके बश में हो जाती है ।

टोना करके प्रेम बढ़ावें

टोना जानने वाली स्त्री तीन स्थितियों में टोने का मंत्र मारती है–अपमान, ईर्ष्या और प्रेम में । लेकिन किसी भी स्थिति में वह पहल नहीं करती जब तक उसे छेड़ा न जाय । प्रेम-प्रसंग में वह टोना करके अपने प्रेमी के चित्र पर सर्प बैठाल देती है । वह सर्प वास्तव में उसी का प्रतिरूप होता है । टोने का बशीभूत पुरुष जब भी किसी रूपवती स्त्री या अपनी विवाहिता को देखता है, तो वह भी उसी टोनहिन स्त्री सदृश दीखती है ।

टोने का वशीकरण बहुत ही प्रभावशाली और भयंकर होता है । वशीकरण में बंधे व्यक्ति को जब घरवाले मुक्त कराने का प्रयास करते हैं तो टोनहिन भरसक अपने मंत्र के प्रभाव को अपने प्रेमी पर बनाये रखने की चेष्टा करती है । विफल होने पर वह प्रतिशोध की भावना से प्रेमी के चित्र पर बैठे मंत्र रूपी सर्प से प्रेमी को डंसाती है । इस प्रकार डंसा व्यक्ति फिर सामान्य व्यक्ति के रूप में जीवित नहीं रह पाता है ।

टोनहिन मारे टोना, ओझा करे ओझाई

जब टोनहिन के होने की बात प्रमाणित हो जाती है तो उस स्त्री के सामने दो ही विकल्प होते हैं या तो वह टोना खींच ले या कठोर दण्ड भोगे। टोनहिन होने के सन्देह में कभी-कभी निर्दोष स्त्री भी दण्ड पा जाती है। आदिवासी समाज में ओझा और बैगा का निर्णय अन्तिम होता है तथा टोनहिन के लिए इनके यहाँ दण्ड-विधान अनिवार्य होता है।

पिछले दिनों सहसा ऐसी ही एक क्रूर और रोमांचकारी घटना का सिंदुरिया गांव में पता चला था। बताया जाता है कि एक व्यक्ति कई वर्षों से बीमार चला आ रहा था। दवादारू से असफल हो वह ओझा के पास गया। ओझा ने उसकी बीमारी का कारण उसी गांव की उजरिया नामक स्त्री के टोने का प्रभाव बताया।

उजरिया उसी गांव की लगभग साठ वर्षीया बियार जाति की स्त्री थी। नाई उसके घर गया। उजरिया को एकान्त में ले जाकर विनती की–'दाई, अपना टोना खींच ले। कोई गलती हो गयी हो तो क्षमा कर। मैं तेरी और तेरी इस देवी की हर मनसा-मांग पूर्ण करूंगा।' उजरिया ने अपना वक्ष दिखाकर उसे विश्वास दिलाना चाहा कि उसके प्रति उसका सन्देह गलत है। इससे नाई संतुष्ट नहीं हुआ।

नाई ने एक रात अपने क्षेत्र के कई ओझाओं का अपने घर जुटान किया। उजरिया बुलवायी गयी। ओझाओं के मंत्र-प्रभाव से उजरिया के सिर पर देवी की असवारी आयी। वह हबुवाने लगी। देवी ने उजरिया को ही टोनहिन बताया। देवी के शान्त होने पर ओझाओं ने उजरिया को टोना खींच लेने के लिए कुछ और समय दिया। समय गुजर गया लेकिन नाई ठीक नहीं हुआ। नाई ने पुनः एक रात गांव तथा आसपास के ओझाओं को–जिनमें माधव दुसाध, छोटई चमार, सीता सोनार, परसोत्तम बाभन आदि प्रमुख थे, जुटाव कराया। उजरिया फिर बुलवायी गयी। जब वह उनके बीच आकर बैठी तो प्रधान ओझा ने उसका अपराध बताया–'उजरिया, तूने देवी की बात को झुठलाया है और ओझा के आदेश की अवमानना की है, अतः तुझे अपने इस अपराध-कर्म के लिए 'विष-दण्ड' भोगना होगा। उजरिया नतमस्तक बैठी रही। उसकी मांग मूड़ दी गयी। मांग में घाव कर रक्त निकाला गया। पीछे से केश काट लिये गये। जिह्वा, मुख पर और जाघों के बीच में भी घाव कर के रक्त निकाला गया। औरत के महीने का कपड़ा पानी में भिगो कर एक कोरे मिट्टी के कटोरे में निचोड़ कर उपर्युक्त तीनों स्थानों का रक्त मिलाकर उसमें उजरिया से थुकवाया गया। इस जहर के कटोरे को उजरिया के हाथ में देकर प्रधान ओझा ने आदेश दिया–'पी जा।' उजरिया उस विष को पी गयी और उसी क्षण उजरिया के टोने के विष का प्रभाव हमेशा के लिए खत्म हो गया। नाई के घर से विष पीकर

नकली उजरिया उस रात के अंधेरे में कहां गायब हो गयी यह आज तक किसी को भी मालूम न हो सका।

टोटका : नंगे नाचे पानी बरसे

टोना शत्रु के अनिष्ट के लिए किया जाता है, जब कि टोटका अपने हित के लिए ही किया जाता है। जब किसी को लड़का पैदा नहीं होता या पैदा होकर मर जाता है, कोई अधिक दिन तक बीमार रहता है, किसी का प्रेमी या प्रेमिका रूठ जाती है, किसी के व्यापार या कमाई में वृद्धि नहीं होती—भूत-प्रेत की बाधा रहती है, तो टोटका करके ठीक किया जाता है। टोटका प्रायः रवि, मंगल या शनिवार को किया जाता है। दीपावली के दिन टोटका का विशेष महत्व होता है। उसी दिन 'वान मारा' जाता है। मन्त्र जगाया जाता है तथा अपने इष्ट को सिद्ध किया जाता है।

विश्वास है कि रवि या मंगलवार को उड़द की दाल की खिचड़ी पका कर काले कुत्ते को खिलाने से पुत्र की प्राप्ति होती है। अकाल होने पर गांव की स्त्रियां समूह में नंगी होकर सूखे खेत में हल जोतती हैं और नाचती हैं तो वर्षा होती और अच्छी पैदावार हो जाती है। भोर में उठकर किसी चौराहे पर दीपक जलाकर सिन्दूर पोतकर कच्चा डोरा चढ़ाकर पूजा करने से प्रेत-बाधा समाप्त हो जाती है। प्रायः जो व्यक्ति सर्वप्रथम उसे लांघता है प्रेत-बाधा उसके पास चली जाती है। इसे दूसरे शब्दों में 'थोपना' कहा जाता है। कभी-कभी बरगद या पीपल के वृक्ष में कच्चा डोरा बांधकर भी टोटका किया जाता है। कुंआ तालाब या नदी के तट पर दीपक जलाकर या जल में दीप-दान करके भी अपने घर आयी बाधा दूसरे पर थोपी जाती है। कुछ घरेलू टोटके जो अमूमन इस्तेमाल किये जाते हैं, जैसे :—

बच्चे का रोना बन्द करना——सरसों, मिर्च (लाल) लोहबान तथा नमक लेकर बच्चे को ओइछना तथा उन वस्तुओं को आग में जलाना।

बुखार से मुक्ति के लिए रोगी की लम्बाई के बराबर कच्चा धागा बरियार के पेड़ में बांधना तथा एक टोड़ा नमक वहीं रख देना।

तीन दिन पर बुखार आने पर मकड़ी और नमक लेकर किसी कपड़े में रख कर नाड़ी में बांध देना।

चौथिया बुखार में—गुड़ और सांप का केचुल भांग में मिलाकर बांह में बांधना।

पलई के दर्द के लिए—अमावस का काजल लेकर पलई में दोनों ओर टीका देना।

अधकपारीमें—सूर्य को चलनी दिखाना, रोगी को चलनी के पानी से ओइछना तथा पुनः उस पानी को चलनी में से पार करके लोढ़ा से ओइछना। अनेक टोटके लोगों के बीच भी देखे जाते हैं। बच्चों को दिठौना इसका उदाहरण है।

मंत्र देवी–वाक्य और तंत्र ?

मान्यता है कि टोना सिद्ध करना मंत्र सिद्ध करने की अपेक्षा कठिन होता है। मंत्र को पढ़ उसे फेंका जाता है जबकि टोना केवल संकेत मात्र से काम कर जाता है। मंत्र को सिद्ध करने के लिए भेड़, बकरा, मुर्गी, मुर्गा और शराब की आवश्यकता पड़ती है। टोना सिद्ध करने के लिए गिरगिट, बिल्ली, बछिया और आदमियों के मल-मूत्र की। मंत्र झाड़ने का यंत्र कुत्थी, राख और बाना होता है। टोना केवल करइन और झाड़ू, से ही झाड़ा जाता है।

मंत्र क्या हैं ? पूछने पर मिसिर माझी-गांव के सिद्ध गुरु बलिकरन ने बताया–'मंत्र देवी–वाक्य है जिसमें वेधने की शक्ति होती है। मंत्र देवी के प्रसन्न होने पर, उनकी कृपा से प्राप्त होता है। गुरु ने मंत्र के विषय में कुछ और अधिक बताने के लिए एक पाव शराब की मांग की। शराब पीकर भगवती के धाम पर बैठकर उसने बताया कार्तिक से वैशाख तक शाम को मंत्र पढ़ता हूँ। चेले मंत्र को इसी धाम के इर्दगिर्द बैठकर सिद्ध करते हैं। मंत्र सिद्ध करने को 'हबुआना' कहते हैं। हबुआना अर्थात् मंत्र को इस तेजी के साथ पढ़ना कि मन्त्र के शब्द स्पष्ट न मालूम पड़े। धाम पर रखे बाने को अपने शरीर में बेधकर शिष्य मन्त्र के सिद्ध हो जाने का प्रमाण देता है। शरीर में बाना बेधने से अगर पीड़ा का अनुभव हो और रक्त निकल आये तो सिद्धि असफल है। अपने ही शरीर में नहीं, दूसरे के शरीर में भी बेधकर अपने मन्त्र के पूर्ण सिद्ध हो जाने का प्रमाण देना पड़ता है। अगर मन्त्र सिद्ध है तो दूसरे के शरीर में भी बाना बेधने से पीड़ा नहीं होती, रक्त नहीं निकलता मन्त्र इस प्रकार है :––

'शिवरतन गुरू, उदराज गुरू, मनहार गुरू, गुलाल गुरू, कौनर गुरुवाइना, माले पाठ बहिया आयो, गुन गंवारी, बात हमारी, हम हई मोहनी भारी, बारह मनकऽ शंकर देयी घुमायी। बड़बड़ भूतन मार गिरायी। छोटे–मोटे करीं अहारा। जै दिन निर्मल भूत न मिले, तै दिन करीं उपवास, काली गंडरे छोड़े बान, कुल-कुल-कुल-कुल कालीचरै, बावन विघाकेइ भलाई, तवन काली आय गढ़, गुरु दोहाई महादेव दोहाई, छत्तीसों कोटी देवता कऽदोहाई।'

उपर्युक्त मन्त्र सिद्ध हो जाने पर जिस मन्त्र को पढ़कर ओझा बैगा, सोखा दुरात्मा और उसके टोने का नाश किया करते हैं, वह मन्त्र नीचे दिया जा रहा है। इस मन्त्र से कुछ आत्माओं के नाम और टोने के किस्म की जानकारी होती है––

'रैमल गुरू, गुसैमल गुरू, सदई गुरू, सहास गुरू, अंधी गुरू, गाजना गुरू, जाधन गुरू, जगदम्बा गुरू, जाता गुरू, खंजनी गुरू, मंजनी गुरू, दोहाई गुरू नरसिंह की। अरघाबांवी, परदा बांधी, तीन खूट के भूत के बान्हें, गुरु बान्हें गुरु भाई बान्हें, गुरुकऽ चेला बान्हें, धरती डोले, पृथ्वी डोले, गुरुका बान्हा ना छूटे, दोहाई गुरु नरसिंह कऽ। बान्हीं आदि मसान बान्हीं, काल गुरैया इसको

टोना, विसको टोना, राकस बान्ही, मोकस बान्हीं, चुसूल बान्हीं, डाइन बान्हीं, भुल्चू बान्हीं ले बान्हीं कमरू कमच्छा दोहाई गुरु नरसिंह कऽ।'

बाना बांधे गुरदम भांजे दोहाई गुरू नरसिंह कऽ

देवी के अस्त्र को बाना कहते हैं। हर चौरे पर लोहे का एक त्रिशूल (बाना) गड़ा रहता है। त्रिशूल के अतिरिक्त बाना डीह के आकार का बारीक कोड़े का भी बना होता है। उसको मोर के पंख के कूचे में सुरक्षित रखा जाता है। इसी बाने को अपने ठुड्डी जिह्वा, भुजा में बेधकर ओझा बैगा अपने चमत्कार का प्रदर्शन करते हैं। बाने का भी एक मन्त्र है। यह मन्त्र एक सम्वाद के रूप में पढ़ा जाता है :—

'लोहार बेटी ! लोहार कहां गइल ?

'धवलगिरी'

'का करे ?'

'चन्नन छावै।'

'चन्नन छाके का करिहैं ?'

'कोयला बनइहैं।'

'कोयला वनाके का करिहैं ?'

'छूरी बनइहैं।'

'छूरी बना के का करिहैं ?'

'टोना कटिहैं' टायस कटिहैं, नाघन कटिहैं, पाघन कटिहैं, सात समुन्दर सोरह धार, कच्छ मच्छ ले बहवइहैं, दोहाई गुरु नरसिंह कऽ।

बाना की ही तरह ओझाई का एक अस्त्र गुरदम होता है जो लोहे का बना होता है। लोहे के कड़े में दो सीकड़ें लटकती रहती हैं जिनके सिरे पर लोहे के दो गोले लगे होते हैं। ओझा कल्ले में अपना पंजा फंसाकर पैंतरा भांजते हुए, अपनी पीठ पर गर्दन के दोनों ओर से तीखे प्रहार करता है। यह प्रक्रिया द्रुततर होती जाती है और उसकी पीठ लहू-लोहान हो जाती है। देवी के सवार हो जाने पर वह हबुआने लगता है। **बिनघ-मसान कवन बोरै तपनी**। दुद्धी स्थित छोटई ओझा से यह भी पता चला कि इस प्रक्रिया में घमसान बाबा की भी आराधना की जाती है। घमसान भी शक्ति के ही लोक-देवता हैं, जिनके विषय में यह कहावत प्रचलित हो गयी है—'बिन धमसान कवन बारै तपनी।' यानी जो कार्य किसी देवता से नहीं होता उसे भी धमसान कर दिखाते हैं। इसलिए धमसान होना लोक में एक मुहावरा भी हो गया है। इसी प्रकार के एक देवता बघउत भी होते हैं।

आज भी अनेक गांवों में धमसान और बघउत की पूजा प्रचलित है। बघउत बाबा बाघ की शक्ल के होते हैं। पकरहट के रामदास ने बताया कि जब कोई व्यक्ति

बाघ द्वारा मार डाला जाता है तो उसकी पूजा गांव में प्रचलित हो जाती है। गांव के लोग बघउत की पूजा मिट्टी का घोड़ा, हाथी और बाघ बनाकर करते हैं। 'माटी का घोड़ा पाटी का लगाम.........' कहावत गांवों में आज भी प्रचलित है।

टोना कला और शास्त्र की कसौटी पर खरा

टोना–टोटका, तन्त्र–मन्त्र, ओझाई–देवाई आदि षट्कर्म महज ईर्ष्या, द्वेष, प्रेम–प्रपंच, जोरू–जमीन आदि के लिए ही नहीं, कला के प्रदर्शन के लिए भी होते हैं। प्रायः गांवों में टोनहिनों में प्रतियोगिताएं भी होती हैं। एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए। एक भरे तालाब को सुखा देती है, तो दूसरी उसे देखते ही देखते पुनः जल से भर देती है। एक टोना मारती है तो दूसरी उसे रोक लेती है।

ऐसी प्रतियोगिताओं में वे एक दूसरे की जान तक ले लेने में नहीं हिचकती। पशु–पक्षियों पर प्रयोग तो आम बात है। उनके लिए वर्ष में दो–चार प्रयोग करना अपनी कला को जीवित करने के लिए अनिवार्य है।

हिन्जेल, स्टासवर्ग, शियरर आदि जर्मनी के विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि जादू-टोना मन्त्र-तन्त्र सम्बन्धी कविताएं अत्यन्त प्राचीन काल से स्कैण्डिनेविया से लेकर इटली तक के अधिकांश देशों में पायी जाती रही हैं। भारत में तो आज भी 80 प्रतिशत लोग इसमें विश्वास करते हैं।

जादू-टोना, भूत-प्रेत तथा टोटका आदि का सम्बन्ध ऋग्वेदकाल से माना जाता है। अथर्ववेद में तो अधिकतर इन्हीं सब विषयों का वर्णन है। आखिर क्या कारण है कि आज के वैज्ञानिक युग में भी ग्रामीण अंचलों में वृक्ष एवं पशु–पूजा जारी है? नीम, पीपल, बरगद आदि वृक्षों के नीचे देवी-देवता स्थापित किये जाते हैं। सेमर वृक्ष में सेमरहवा बाबा होते ही हैं इन्द्रासनी, गंवहेर, बनसत्ती, बघउत, घमसान आदि की पूजा में स्त्रियां प्रायः गीत गाती है। अक्सर वे गीत गाती हैं तो ओझा पर देवता सवार हो जाते हैं और वह हबुवाने लगता है। गांव में अक्सर ऐसे गीत सुनने को मिलते हैं :–

अम्मा डगर चलऽनी सारी रतिया
अम्मा के माथे टीका सोहे, दवनी है सोवरन की।
अम्मा डगर चलऽनी सारी रतिया।"

बीसवीं शताब्दी में भी भारतीय ग्रामीण जन, लोकविश्वासों के कटघरे में कैद हैं और हम स्वयं इन अविश्वसनीय सी लगती कथाओं के रूप खोजने में भटक जाते रहे हैं। अब तो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इसका एक विभाग ही खूलने जा रहा है। देखिये कितना कार्य होता है।

जनजातियों में लोकतंत्र : समस्याएं और समाधान

जनजाति शब्द आदिवासी का पर्याय हैं और आदिवासी शब्द अपने में अनुपम तथा अद्‌भुत इतिहास संजीये हुए है। इसका उच्चारण करते ही अब एक पुरातन, लुप्तप्राय, शोषित, प्रताड़ित जाति एवं उसकी संस्कृति का स्वरूप सामने आ जाता है जो आज भी भौतिक रूप में जंगलों, पहाड़ों, खोह-कंदराओं में जीवित है। आदिवासी आरम्भ से ही स्वतन्त्र जीवनयापन करने का अभ्यासी रहा है। वैज्ञानिक युग की चकाचौंध से दूर आधुनिकता की कृत्रिम और जटिल व्यवहार-शैली से अनभिज्ञ और आज के भौतिक वैभव एवं भोगवादी जीवन से सर्वथा अपरिचित आदिवासी समुदाय अपनी परम्पराओं, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के प्रति पूर्ण आस्थावान हैं। इनका अपना लोकतन्त्र है, इनकी अपनी विशिष्टताएं हैं, इनके अपने संस्कार हैं, इनकी अपनी जीवन-शैली है। इनके रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज का अध्ययन मनोरंजक और ज्ञानवर्धक है।

एकान्तिक जीवन जीने की प्रवृत्ति

जनजातियों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे एकान्तिक जीवन जीने के अभ्यासी होते हैं। वे अपने जीवन के तौर-तरीकों में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहते। यही कारण है कि वे जंगलों और पहाड़ों में ही निवास करते हैं। प्रागैतिहासिक काल के जो आदिम-अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे ऐसा पता चलता है कि वे समूह में तो रहते थे, किन्तु सभी स्वच्छन्द जीवन जीते थे। देश-विदेश में आदिमानव की चित्रित गुफाएं भी मिली हैं। अतः यह बात अपने आप स्पष्ट हो जाती है कि वे जंगलों और पहाड़ों में समूह बना कर रहते थे ताकि वे प्रकृति के प्रकोप अथवा जंगली जानवरों से भी अपनी रक्षा कर सकें।

उनके इस तरह के एकान्तिक जीवन से उनकी हानि भी हुई है। सबसे बड़ी हानि तो यह हुई है कि वे आज की सभ्यता के साथ कदम से कदम मिला कर नहीं चल पा रहे हैं। इससे उनका जीवन स्तर गिरता जा रहा है और वे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं बना पा रहे हैं। वे आधुनिक शिक्षा-दीक्षा से भी बंचित होते जा रहे हैं।

कृषि और उद्योग में रुझान का अभाव

आदिवासी शिकारी होते हैं। प्रातःकाल उठ कर वे जंगल में चले जाते हैं। वहां पर वे जंगली जानवरों का शिकार तीर-कमान से करते हैं अथवा कन्द-मूल-फल खोजकर लाते हैं। इस तरह वे रोज कुंआ खोदते और रोज पानी पीते हैं। जो आदिवासी कुछ काम-धंधा भी करते हैं अथवा हलवाही-चरवाही कर, बीड़ीं-पत्ता तोड़ कर, लाह इकठ्ठा करके लकड़ी-बांस काट-बेंच कर अपना भरण-पोषण करते हैं वे भी

अपने भविष्य के प्रति सचेष्ट नहीं होते। अधिकांश परिवारों में मात्र एक-दो मिट्टी के पात्रों, दो-तीन अल्युमुनियम के बर्तनों और लोटा-गुदड़ी के अतिरिक्त गृहस्थी का और कोई सामान नहीं होता। जनजातियां उद्योग-धन्धों में कोई रुचि नहीं लेतीं। बहुत थोड़ी जातियां ऐसी हैं जो कहीं कुछ खेती-बाड़ी कर लेती हैं अथवा मधु-संचय करने, रेशम के कीड़े पालने, भेंड़ के बाल से कम्बल आदि बुनने, बांस या लकड़ी के खिलौने आदि बनाने का कार्य करती हैं। यद्यपि इन कार्यों को बे आसानी से कर सकती हैं। इसका मुख्य कारण है, उनमें शिक्षा का अभाव।

शराब की आदत

जनजातियों में शराब पीने की आदत भी पायी जाती है। वे सपरिवार शराब पीते हैं। भोजन उनके लिए अनिवार्य नहीं है किन्तु शराब अनिवार्य है। यद्यपि अब वे धीरे-धीरे इस लत से मुक्त भी होते जा रहे हैं। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि वे आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से जर्जर हैं। उनका मानना है कि उनका देवता शराब से प्रसन्न होता है। उनका हर उत्सव, शराब के बिना पूरा नहीं हो सकता। लेकिन यह उनकी सामाजिक अथवा धार्मिक व्यवस्था का दोष है।

अंधविश्वास और रूढ़िवादी भावना

जनजातियों का कोई धर्म अथवा समाज़-संहिता नहीं है। शताब्दियों, सहस्राब्दियों से जो रूढ़ियां, परम्परायें बाप-दादा मानते आ रहे हैं वे उन्हीं को पकड़े हुए हैं। उससे भिन्न वे कुछ नहीं कर सकते। यही कारण है कि आदिवासी मर जाते हैं, किन्तु किसी डाक्टर के पास जाकर दवा नहीं लेते। वे डाक्टर को 'सुईगोदवा' कहते हैं और उसे देखते ही भाग जाते हैं। वे जड़ी-बूटियों, मंत्र-तन्त्रों और ओझाई-देवाई में विश्वास करते हैं। गांव का बैगा (पुजारी) जो कहता है, वही करते हैं। बलि-प्रथा में विश्वास करते हैं। बड़ा देव, कर्मदेव, दुल्हा देव, घमसान की पूजा करते हैं और आने वाली बाधा, अकाल, दुकाल, महामारी में भी वे प्रायः स्थान छोड़कर नहीं जाते। अभी भी उनमें अंधविश्वास और रूढ़िवादी प्रवृत्तियां जड़ जमाये हैं।

पंचायत-प्रथा

जनजातियां अपनी हर समस्या का समाधान पंचायत प्रथा द्वारा करना चाहती हैं। पीने का पानी नहीं मिलता तो वे पंचायत करके तय करते हैं कि पानी कहां से लाया जाय। कोई लड़का या लड़की बदचलन निकल जाती है तो पंचायत द्वारा तय किया जाता है कि उन्हें कौन सा दण्ड दिया जाय। कहीं झगड़ा हुआ, किसी ने उन पर आक्रमण कर दिया, किसी ने उनकी इज्जत ले ली तो भी वे पंचायत करते हैं और पंच जो निर्णय करते हैं, वही करते हैं। कोई कुजात हो गया, किसी दूसरी कूरी में चला गया तो उसे पंच लोग जाति-निकाला का दण्ड दे देते हैं।

उनको इस पंचायती प्रथा से अनेक लाभ भी हैं। पहली बात तो यह कि इससे उनमें बड़े-बूढ़ों के प्रति आदर का भाव पैदा होता है। वे अनुभव से लाभ उठाते हैं। मुकदमें से बच जाते हैं। आपसी वैर-भाव भी पनपने नहीं पाता। पंचों द्वारा दिया गया दण्ड एक प्रकार से सामाजिक दण्ड होता है। अतः कोई भी व्यक्ति बार-बार अपराध नहीं करता। एक ही बार में वह अपनी गलती महसूस कर लेता है और दण्ड मिलने के कारण अपमानित भी होता है।

जनजातियों की सामाजिक संरचना ऐसी है कि उसमें व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। परिवार में बड़े-बूढ़ों का और समाज में पंचों का महत्व ही सर्वोपरि है। स्त्रियों को भी पर्याप्त आदर मिलता है। प्रायः स्त्री पर पुरुष का नहीं, अपितु पुरुष पर स्त्री का शासन रहता है। वे ही घर की मालकिन रहती हैं। गांव के मुखिया की बात भी सभी मानते हैं। उनका मुखिया आदेश दे दे तो वे क्या नहीं कर सकते ? आदिवासियों में संघ की शक्ति होती है। इसलिए वह व्यक्तिगत रूप से अपराधी नहीं होते। यह प्रवृत्ति उन्हें परवश, लाचार, पुरुषार्थहीन, अकर्मण्य होने से भी बचा लेती है।

ईमानदारी की कमी नहीं

आदिवासी समाज को यह प्रमुख विशेषता है कि वह ईमानदार, सच्चरित्र और वचन का पक्का होता है। वह स्वाभिमानी भी कम नहीं होता। स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी भी लगा देता है। अब प्रश्न उठता है कि ये सब गुण उसमें कहां से आये। उसकी कोई आचार-संहिता भी नहीं है। कहना होगा कि आदिवासियों में ये गुण बहुत कुछ वंश-परम्परा से और शेष वातारण से आते हैं। आदिवासियों का कोई लिखित साहित्य भले ही न हो उनके बीच प्रचलित लोक-साहित्य ही उनकी आचार-संहिता और पुराणेतिहास है। आदिवासी-गीतों, कथाओं, नाट्यों, लोकोक्तियों, गाथाओं में सामाजिक नियमों, मूल्यों और अनुष्ठानों का वर्णन होता है जिनको मौखिक परम्पराओं से सुन कर आदिवासी अपने जीवन में लागू करता है। कोई कभी अपराध कर बैठता है तो उसे उसके ही अनुसार दण्ड दिया जाता है। दूसरी जाति के साथ रोटी-बेटी का संबन्ध स्थापित करने पर परिवार और जाति से च्युत कर दिया जाता है, फिर जब वह अपना अपराध स्वीकार कर लेता है और जाति-बिरादरी को भोज देकर कथा-वार्ता सुन लेता है तो पुनः बिरादरी में सम्मिलित भी कर लिया जाता है। इसी प्रकार जब कोई आचरण-भ्रष्ट हो जाता है तो उसे रस्सी में बांध कर मारा भी जाता है। इस प्रकार का दण्ड प्रायः सभा के बीच दिया जाता है। चोरी, डकैती के जुर्म में जुर्माना भी लगाया जाता है और जुर्माने के धन को किसी सार्वजनिक हित में खर्च किया जाता है।

आदिवासियों में भी धार्मिक अनुष्ठानों तथा अन्य जीवन-मरण से संबन्धित संस्कारों का प्रचलन है। इसके लिए भी उनकी कोई आचार संहिता नहीं बनी है। गाँव का

मुखिया, ओझा, बैगा, बड़ा-बूढ़ा, जो कह देता है, वही वेद-वाक्य हो जाता है। पूजा-पाठ बैगा करता है। वही बलि भी चढ़वाता है। करमा के आयोजन में मदिरा का प्रसाद बंटवाता है। वही विवाह कराता है। विवाहोपरान्त पति-पत्नी अपना दायित्व संभाल लेते हैं और परिवार से प्रायः पृथक् होकर अपनी अलग घर-गृहस्थी बना लेते हैं। मरने के बाद लाश को जलाने की प्रथा है। जन्म, मरण, विवाह आदि समारोहों में इनका कुछ खर्च नहीं होता। इनमें दहेज प्रथा नहीं है। जो भी मेहमान समारोह में सम्मिलित होता है कुछ न कुछ अनाज, पैसा, महुआ, कन्द-मूल-फल आदि अपने साथ ले कर आता है। इस प्रकार लड़की की शादी हो या लड़के का विवाह करने वाले पर कोई विशेष खर्च नहीं पड़ता।

कुप्रथाओं से मुक्ति के उपाय

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि आदिवासी रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी और समाज से सर्वथा अलग हैं। जहां हम एक ओर सर्वोदय और अन्त्योदय की बात करते हैं, वहां ये समस्याएं आदिवासियों के विकास के मार्ग में गाड़ी के सामने काठ की तरह आ जाती है। अब प्रश्न यह है कि इनका समाधान कैसे किया जाय? पहली बात तो यह है कि वे इससे मुक्त होना ही नहीं चाहते। अतः हमारा यह प्राथमिक कर्तव्य है कि—

(1) उनकी मानसिकता में परिवर्तन लाया जाय ताकि वे नयी सभ्यता के साथ पांव में पांव मिला कर चल सकें। (2) संस्कारों में सुधार के लिए उनके बच्चों को शिक्षित किया जाय। (3) उनकी गरीबी दूर करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया जाय। उनके उद्योगों का विकास तो किया ही जाय, उन्हें नये उद्योगों में भी काम दिया जाया। (4) उनके साहित्य का संग्रह करके उसके अनुरूप उनके लिए आचार-संहिता बनाई जाय। (5) आदिवासी क्षेत्रों में सूचना केन्द्र खोले जायं और समय-समय पर सांस्कृतिक आयोजन करके उनके रुचिबोध को परिष्कृत और परिमार्जित बनाया जाय। (6) उनमें प्रचलित शराब आदि की कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए सुधार सम्बन्धी नाटक, सिनेमा अथवा साहित्य निःशुल्क दिखाया अथवा बांटा जाय।

पाँचवां अध्याय

कलात्मक जीवन : नृत्य, संगीत, शिकार तथा अन्य कलाएँ और कलाकार वर्ग की जनजातियाँ

आनन्द और सुख तो सचमुच अनुभव की ही वस्तु है। घी-दूध की कुल्लियाँ करने वाला भी दुखी और फटेहाली का जीवन जानेवाला भी सुखी हो सकता हैं। आप ही सोचिये, आदिवासियों के पास क्या होता है ? लेकिन वे कितने सुखी रहते हैं ? क्यों ? उनके जीवन में संगीत है। वे नाचते-गाते दिन काट देते हैं। दिन भर के थके-माँदे आदिवासी जब अपनी झोपड़ी में पहुंचते हैं तो रूखा-सूखा जो कुछ मिलता है, खाकर बस्ती के किसी छोर में, नदी के तट पर या किसी बृक्ष की छाया में, या फूस की झोपड़ी में हीं पूरे परिवार के साथ एकत्र होते हैं। चांदनी के प्रकाश अथवा जलती हुई लकड़ी की दीप-शिखा में नाचना- गाना आरम्भ कर देते हैं। जहाँ कभी भी मादल और घुंघरू या डफले की आवाज सुनाई पड़े, समझ लीजिये वहां आदिवासी-नृत्य हो रहा है। दूर की ढोल सुहावन होती है, पर मादल-डफले की आवाज उससे भी अधिक सुहावन होती है।

आदिवासी-नृत्य के लिए किसी प्रकार के साजबाज की आवश्यकता नहीं होती। स्त्री-पुरुष दो दलों में आमने-सामने खड़े हो जाते हैं——बस, मादल की आवाज पर नाचना शुरू कर देते हैं तो रात-रात भर नाचते ही रह जाते हैं। झूम-झूमकर नाचते हैं। इसलिए कि छककर मदिरा-पान कर लिए होते हैं।

करमा

उ० प्र० के आदिवासियों का सर्वप्रमुख नृत्य करमा है जिसे घसिया, गोंड, खरवार, कोल पनिका, चेरो, कोरवा आदि सभी जातियां नाचती हैं। वैसे तो, करमा इनके मनोरंजन का मुख्य साधन तथा जीवन की प्रेरणा है तथापि उसमें साहित्य, संगीत और संस्कृति की त्रिवेणी भी प्रवाहित होती है। विशेष पर्वो, त्यौहारों पर करमा पूजन भी वे करते हैं।

'करमा' यानी 'कर्म को वे पुरुषार्थ का प्रतीक मानते हैं, इसलिये वे अपनी बाहुओं पर विश्वास करते हैं। वे कर्मवीर होते हैं। देवी-देवताओं के पूजा पाठ से लेकर तीर-कमान तक इनके पुरुषार्थ देखे जा सकते हैं। ये जन्म से आत्म-निर्भर होते हैं। नन्हें-मुन्ने भी जंगल जाकर, शिकार कंदमूल-फल खोज लाते हैं। कृषि-कला में भी प्रवीण और कर्मठ होते हैं। इन्हें जहां कहीं भी लगा दीजिये, ईमानदारी से लगे रहते और उस कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ते हैं।

करमा नृत्य कदम्ब की डाल गाड़कर उसके चारों ओर किया जाता है। नृत्य समाप्त होने पर उस डाल को किसी नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है। इस तिथि के एक सप्ताह पूर्व स्त्रियां जौ के पौधे रोपती हैं और प्रतिदिन उसकी परिक्रमा करते हुए नृत्य-संगीत का आयोजन करती हैं। कहानियां भी सुनाई जाती हैं। वृक्ष, जौ, नदी, सभी प्रकृति के उपादान हैं। आदिवासी इन सबसे जीवन-संघर्ष की प्रेरणा लेता है और यही कारण है कि विषम से विषम परिस्थितियों में भी कभी घबराता नहीं है। इसी भावना से सम्बन्धित एक कथा भी प्रसिद्ध है——

करमा की कहानी

एक राजा के चार लड़के थे। तीन बड़े और एक छोटा। छोटा लड़का भौजाई के ताना या मेहने का शिकार होकर मारा-मारा फिरने लगा, किन्तु सत्यनिष्ठ और ईमानदार होने के कारण उसका सर्वत्र सम्मान भी होने लगा। पैसे की उसे कमी न थी। पर वह धन का निर्मोही था। उसके इस गुण से प्रसन्न होकर एक राजा ने उससे अपनी कन्या का विवाह रचा दिया। वह सुखपूर्वक रहने लगा और देखते ही देखते बारह वर्ष का समय बीत गया।

इधर शेष तीनों भाइयों की दशा दिन-प्रति-दिन खराब होने लगी। वे दाने-दाने को मोहताज होने लगे। एक दिन छोटे भाई ने राजकुमार के रूप में अपनी पत्नी के साथ अपने घर की ओर प्रस्थान किया। गांव के लोगों ने उसे दूर से ही देखकर सोचा, 'कोई राजा चढ़ाई करने आ रहा है।' लेकिन जब वह निकट आया तो उसे पहचानकर वे आनन्द-विभोर हो गये। सम्पन्नता और विपन्नता के इस मिलन-पर्व को 'करमा' नाम दे दिया। इसलिए कि, कर्मदेव की पूजा के परिणामस्वरूप ही उन्हें यह शुभ दिन देखने को मिला था। आदिवासी कर्म एकादशी, विजयदशमी, जीवित-पुत्रिका, होली, अनन्त चतुर्दशी के अवसर पर 'करमा' का विशेष आयोजन करते हैं। करमा-गीत की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं।

"किया गइले मइया-बाबू
किया गइले पिठिया क भाई ?
निरखे गारो अमां तले हो-ऽ-ऽ-ऽ-।
बने छूटे मइया-बाबू,
देसवां छूटे पीठी क भाई,
"निरखे गोरी अमां तले हो।

अर्थात् 'गांव की गोरी ससुराल जाकर आम के छांव-तले अन्यमनस्क भाव से बैठी सोचती है कि मेरे मां-बाप, पीठी का सगा भाई क्यों छूट गये ? माँ-बाप वन में और सगा भाई घर पर छूट गया।'

6

करमा में जीवन की अभिव्यक्ति

करमा-गीतों में करुणा, प्रेम, वीरता, पुरुषार्थ, स्नेह, दया, भक्ति, ज्ञान की बातें चित्रित हैं। उनके जीवन की छोटी-छोटी बातें भी बड़े महत्वपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त हुई :

"डाइन के मइ मुर्गा डेना,
काटइ के बसखारि होरे ऽ ऽ ऽ।
मीजइ के रहरी क दाना,
ठोकई के सवई कुवार रे ऽ ऽ हो ऽ ऽ ऽ।
मोरे कमवां से खुस मोरा छैला रे,
हंसि-हंसि पिढ़वा बईठि के खाला,
का करी देवरा हमार रे ऽ ऽ ऽ।
सइयां मोरा अंखियाँ सोहाला रे ऽ ऽ ऽ।"

अर्थात् 'मुरगी की डैना फेंकना, बसवार छांटना, अरहर का दाना निकालना और कुवांर की संवई ठोकना ही मेरा काम है। यह सब करने से मेरा पति प्रसन्न रहता है। वह हंस-हंसकर पीढ़े पर बैठकर खाता है तो मैं देवर के आंख की किरकिरी बन जाती हूँ। फिर भी मुझे तो मेरे प्रियतम ही आँख सुहाते हैं।'

इस छोटे से गीत में पति-पत्नी, देवर-भाभी के सम्बन्धों की कितनी मार्मिक व्यंजना की गई है! साथ ही एक स्त्री के गृहस्थ-जीवन का चित्र भी उभरकर सामने आया है। इस तरह के न जाने कितने भाव-चित्र इन गीतों में उपलब्ध हैं।

डफला, सैला नृत्य एवं मोर बाजा

आदिवासियों में करमा के बाद डफला नृत्य, सैला नृत्य और मोर बाजा का बड़ा महत्व है। आदिवासी इसे कौड़ियां पहनकर प्रस्तुत करते हैं। यह गोंड राजाओं का दरबारी नृत्य था, जिसमें युद्ध और वीरता का वर्णन होता था। आज भी खेत से लौटने के उपरान्त आदिवासी बैलों के जुए ले, छुटकाकर जुए का सैला निकाल मस्ती में आत्म-विभोर हो आपस में सैला लड़ाने और नाचने लगते हैं। इसी प्रकार मानर या बड़ी ढोल में मोर-पंख लगाकर, अपनी कमर में कौड़ियां गुँथी पेटी और उसमें भी मोर-पंख लगाकर समूह-नृत्य करते हैं। इस नृत्य में प्रायः पुरुष ही सम्मिलित होते हैं।

मोर उनके जीवन में मस्ती का प्रतीक है। वह सर्प यानी जीवन में विष का भोजन कर जाता है। सच भी तो है, आदिवासी जीवन में हर क्षण संघर्षरत रहता और अन्यायों, अत्याचारों का भी डटकर मुकालबा करता है। जिस प्रकार मोर पक्षी जंगल में स्वच्छन्द विचरण करता है, उसी प्रकार आदिवासी भी विष-पान करते हुए देश-समाज की भलाई ही करता रहता है। आदिवासी काम न करनेवालों को

'निखट्टू' कहता है। उसके अनुसार, घुमन्तू पति किसी को मिल न जाये, वरना ब्याहता का जीवन दूभर हो जाता है; देखिये :

"एइसे निखट्टू कमवां न करे रे ऽ ऽ ऽ"
ससुरा के तनवां जियरा में गड़ि जाये रे ऽ ऽ ऽ।
बाबू ला विहयलेस देखि घर-बरवा,
फूटि गइले मोरे करमवां रे ऽ ऽ ऽ।
एइसे निखट्टू कमवां रे ॥

आदिवासी गीतों में विविधता के दर्शन होते हैं। ऋतुओं, पर्वों, विवाह, गवन, मृत्यु आदि संस्कारों तथा जीवन-प्रसंगों से सम्बद्ध गीत बड़े मार्मिक हैं तथा उनके जीवन में रस घोल देते हैं। दो-दो, चार-चार पंक्तियों के ये गीत उनके जीवन को नया मोड़ दे जाते हैं : 'भाई रे, राउर मरम हम जानी ला,' 'नान्हें द ऽ मोरे गबन करी लाने', 'पिया डेहुरी बइली मन मोर,' तथा 'खाटी परी सेवलिस मेहरिया, भूसा सेवले भतार।' ससुरा-भसुर नाहीं माने, तिरिया गदहा समान।' आदि पंक्तियां शिक्षाप्रद तथा जीवन के यथार्थ चित्र अंकित करनेवाली हैं। उनकी गरीबी का चित्रण इन पंक्तियों में देखिये :

"केकरे घरे रोटिया माड़े जाई रे ऽ ऽ ऽ।
भूख बिन जरत बाय छतिया।
कइसे क दुधवा पियाई रे ऽ ऽ ऽ।
परिगल सूखा पानी नाहीं कुइयां।
कइसे क सइयां बदे पनियां लिआई रे ऽ ऽ ऽ....."

'किसका आटा माड़ने जाऊं कि दो रोटी मिल जाये। भूख से छाती जलने लगी है, फिर रोते हुये शिशु को दूध कैसे पिलाऊं। सूखा पड़ गया है तो फिर स्वामी के लिये पानी भी कहां से लाऊँ ?'

करुणा का इससे सुन्दर चित्र और कहां मिल सकता है! इसी प्रकार का एक चित्र और देखिये : 'एक स्त्री तेंदू का पत्ता तोड़ने गई है। उसे कांटे गड़ जाते हैं। कड़ी धूप में छहांने के लिये कोई छायादार वृक्ष नहीं मिलता। पसीना इस तरह बह रहा है कि उसकी चोली भींगकर शरीर से चिपक गई है–

"तेनुआं क पतवा तोरत गड़ि गल कंटवा रे ऽ ऽ ऽ।
चिलकत घमवां नाहीं मिले छहवां रे ऽ ऽ ऽ।
पसीना में भीजल चोलिया, देहियां, में चिपकल जाला रे ॥"

करमा, उधवा, झूमर, चांचर, डुमकच, कोलदादर आदि गीतों के अतिरिक्त आदिवासी, लोरिकी, आल्हा, विजयमल की गाथायें भी गाते हैं जिनमें जीवन-दर्शन भरा पड़ा है।

प्रकृति नटी से सामंजस्य

आदिवासी स्वभावतः प्रकृति प्रेमी होता है। इसलिये उसके गीतों में प्रकृति का चित्रण सर्वत्र देखा जा सकता है। पशु-पक्षी, वन, पर्वत, नदी-नाले, झरने, फूल फल, धरती-आकाश, सभी उसके साहित्य और संगीत के विषय हैं। ऋतुएं इसके जीवन को नीरस नहीं होने देतीं। नदियां और निर्झर इसको जीवन में गतिशील रहने की प्रेरणा देते हैं। पक्षी इसके जीवन को संगीतमय बना जाते हैं। धरती विपत्ति में भी धैर्य धारण करने का मौन संदेश देती है तो आकाश पौरुष द्वारा विस्तार पाने का संकेत दे जाता है। इसीलिये आदिवासी बन्धन नहीं, मुक्ति चाहता है। आज का पैशाचिक जीवन उसे पसन्द नहीं आता। उसके **उधवा** गीत में एक वार्त्तालाप देखिये——

नायक——कारी-कारी रात गीत, गाय ए को घरो।

नायिका——लो रे झूरी मीता ला,
मैं नाइ जानो राम वन-गमन।

नायक——कारे अंवरा लगे गाव गीत क पंवारा।

नायिका——जेब दस्ता चले आव ये ही रसता।

कौन सुखी है, कौन दुःखी——इसकी परिभाषा **डोमकच** गीत की इन पंक्तियों में देखिये——

"कवनी चिरइया सुख सोवे मइया रे,
कवनो चिरइया रोवे रात ?
सुखिया चिरइया सुख सोये रे,
दुखिया चिरइया रोवे रे रात।"

इस प्रकार संगीत और नृत्य उनके जीवन को सुखी बनाने के मुख्य साधन हैं। वे भूखे पेट रहते हुये भी संगीत की स्वर-लहरी छेड़ते रहते हैं। सुख उनके मन की उपज है, जिसकी अभिव्यक्ति वे अपने गीतों में करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आदिवासी-गीतों और नृत्यों में उनके जीवन के न जाने कितने भाव-चित्र अंकित हैं जिनसे वे हर क्षण प्रेरणा पाते रहते हैं।

संगीत-नृत्य की विविधतायें

आदिवासियों में गीत-नृत्य की अलग-अलग परंपरायें हैं। उड़ीसा के आदिवासी **छाऊ** नृत्य करते हैं। यह एक प्रकार का भाव-नृत्य है। एक व्यक्ति कुछ कहता है, जिसकी अंतिम पंक्ति पर ढोल-मजीरा और घुंघुरू वाद्यों के संग नर्तक किसी देवी-देवता अथवा पौराणिक पात्र के रूप में दर्शकों के बीच प्रवेश करता है। उसके प्रवेश करते ही अन्य नर्तक भी मंच पर आते और एक साथ थिरक उठते हैं। इस नृत्य में पहले देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है और तब कोई रूपक प्रस्तुत किया जाता है। नृत्य के साथ-साथ संगीत के स्वर भी गूंजते हैं। यथा——

"अमेयार सेवा कॉरिबू, अमें बेसर सेवा करीबू
नुआ आलोक नुआ चेतना पुरफली से भली
रास्ता कर कॉरिबू समा, कड़ी कजा कड़िया रका
अनाचार अत्याचार बिरुद्ध, जीवन दई लोरिये बकाई
बाते बर जना समूहे सारा करी मना धना रा देखने करोनै।"

अर्थात्–'गांव की, माँ की, देश की सेवा करोगे तो अपने को महान् बनाओगे। समाज में चेतना जगाओगे, खाद देकर उपज बढ़ाओगे, आपसी झगड़े निपटाओगे, तभी सुखी रहोगे।'

इसी प्रकार सिंहभूमि बिहार के मुण्डाओं का दुवंग नाच प्रसिद्ध है। यह श्रीकृष्ण-रासलीला की अनुकृति पर है। स्त्री-पुरुष, विवाहित-अविवाहित सभी मिलकर नाचते हैं। 'उन्ना' और 'खुलेट' वाद्य-यन्त्रों के संग जब संगीत की पंक्तियां गूँजने लगती हैं तो सारा दुःख-दर्द मिट जाता है। इसके लिये किसी मंच की आवश्यकता नहीं होती, अपितु एक मिट्टी का चौतरा ही पर्याप्त होता है।

करमा के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के कोलों का कोलदादर, कोलों और भुइहारों का पनधूधुर, भुरतियों का फर्री और कुछ अन्य जातियों का नटुआ नृत्य भी प्रसिद्ध है। दुद्धी की कुछ जनजातियां सैला नृत्य भी करती हैं। 'कोलदादर' और 'पनधूधुर' में स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित होते तथा मिलकर नाचते हैं। किन्तु 'फर्री' जुझारू नृत्य है। इसे डफला की आवाज पर पुरुष ही नाचते हैं, कलैया मारते हैं और उछलकर आकाश ही में कलाबाजी दिखाते हैं। नटुआ नृत्य ढोल, मजीरा, सारंगी आदि वाद्यों के संग होता है। नर्तक नाचते हैं और बीच-बीच में हास्य-प्रहसन और जोगीड़ा भी किया जाता है। एक-दो पंक्तियां बार-बार दुहराई जाती हैं। यथा—

"केकरे गले हार हो रामा
सुरतिया ना भूले हो रामा
राम जी के सिरवा मुकुटवा हो रामा।"

इसी प्रकार कुमायूँ में चांचरी, छपेली तथा छोलिया नृत्य तथा गढ़वाल के पांडव, थैया और चोनफुल वादी-वादिन लोगों का और सैला नृत्य भी प्रसिद्ध हैं। बुंदेल-खंड और जौनसार बावर जैसे अंचलों के लोक-गीतों में वहां की आदिवासी जातियों और क्षेत्रीय विशेषताओं की छाप पायी जाती है। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि संगीत-नृत्य ही आदिवासी जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है।

नृत्य-गीत-प्रकार[1]

करमा—थोड़े अन्तर के साथ यह सभी जनजातियों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नृत्य है। पूरा का पूरा गांव हजारों की संख्या में कर्म-देवता की पूजा करके गाता-बजाता और नृत्य करता है। यह सम्भवतः कर्म के प्रति विश्वास का प्रतीक है।

1—विशेष अध्ययन के लिए देखिये 'करमा' : डा० अर्जुनदास केसरी, लोकरुचि प्रकाशन, राबर्टसगंज, मिर्जापुर

कोलदहकी—कोल जाति का विशिष्ट नृत्य-गीत, जिसमें पुरुष ढोल बजाते हैं और स्त्रियां नृत्य करती हैं।

नटुआ—मूलतः आदिवासी नृत्य, जो कालान्तर में हरिजन जाति का नृत्य-गीत हो गया। इसमें एक विशेष परिधान–घाघरा–पहनते हैं।

डोमकच—डोम या धरकार जाति का विशिष्ट गीत-नृत्य, जिसमें डफला वाद्य का विशेष प्रयोग होता है। नर्तक पांवों में कड़ा घुँघरू पहनते हैं। कभी-कभी कमर में घुँघरू और कौड़ी बांधते हैं।

सैला—नागपंचमी तथा दीपावली के अवसर पर किया जानेवाला नृत्य। नर्तक बाघ, चीता या सूअर की खाल में भूसा भरकर पशुओं के बीच में ले जाते हैं, जिससे पशु भड़कते हैं। इस प्रकार यह एक खेलकूद-प्रधान नृत्य है।

कलैया—एक कलाबाजी-प्रधान नृत्य, जिनमें नर्तक उछलते हुए आगे बढ़ते चले जाते हैं और फिर पीछे लौटते हैं। इसमें डफले का विशेष प्रयोग किया जाता है।

फर्री—दो-तीन आदमी एक आदमी को डंडे से घेरकर उसके शरीर पर प्रहार करते हैं। घिरा हुआ आदमी डंडे से ही अपना बचाव करता है। एक प्रकार से इसे युद्ध-नृत्य कह सकते हैं।

बिनवट—यह भी युद्ध-नृत्य है। इसमें सौ, दो-सौ आदमी बिनवटबाज को घेरते हैं और वह अकेले अपना बचाव करता है।

गोदना—बादी जाति की स्त्रियाँ गोदना गोदने का कार्य करती हैं। मान्यता है कि जीवन में सब कुछ यहीं रह जाता है किन्तु गोदना साथ जाता है। वस्तुतः गोदना गोदते समय कष्ट-परिहार के लिए यह नृत्य किया जाता है।

पूजन—अगरिया जनजाति का एक अनुष्ठान परक नृत्य-गीत। मुख्यतः नवरात्रि के अवसर पर इसका आयोजन होता है। वनदेवी ज्वालामुखी के पूजन के समय इस समूह-नृत्य में लोग जलती अंगीठी लेकर नाचते हैं। इसी प्रकार गोंड जनजाति के लोग शिव की पूजा-अर्चना के समय डमरू, त्रिशूल और निशान बजाकर नृत्य करते हैं।

गीत-प्रकार

इन गीतों में गायन प्रमुख रहता है और नृत्य कभी-कभार आंशिक रूप में ही होता है।

संस्कार गीत—जन्म से लेकर विवाह तक के विभिन्न संस्कारों में ये जनजातियाँ अपने ढंग से उत्सव मनाती हैं। इनमें अन्नप्राशन संस्कार तथा शस्त्र-ग्रहण संस्कार का अपना एक विशेष महत्व है।

प्रेम-श्रृंगार तीग—संयोग-वियोग तथा प्रेम की मूल भावना संबंधी इनके गीतों की अपनी एक छटा है, जिससे इनके सामाजिक जीवन की जानकारी मिलती है।

श्रम-परिहार गीत––कृषि; जंतसर, बोझा ढोना, पत्ता तोड़ना आदि कार्यों में श्रम के परिहार के लिए गीत गाए जाते हैं।

धार्मिक गीत––हिन्दू धर्म के विभिन्न देवी-देवताओं, स्थानीय देवी-देवताओं से संबंधित गीतों में कृष्ण से संबंधित गीत प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

आखेट गीत––आखेटजीवी जनजातियाँ आखेट के समय गीत गाती हैं।

यात्रा गीत––दुर्गम स्थानों की पैदल यात्रा के समय, क्षेत्रीय बाजारों में आने-जाने के समय ये जातियाँ गाती रही हैं, जो आधुनिक सभ्यता के विकास-क्रम में लुप्त-प्राय होते जा रहे हैं।

अकाल-दुकाल तथा शोषण-गीत––अकाल तथा सामंती व्यवस्था के प्रति विरोध से सम्बन्धित इनके गीतों में सामयिक स्थिति का अनूठा चित्रण मिलता है।

प्रकृति गीत––इन जातियों का प्रकृति से सीधा सँबंध रहता है। पशु-पक्षी एवं वनस्पति से संबंधित गीत ये बहुत ही भाव-विभोर होकर गाते हैं।

ऋतु गीत––ऋतु का परिवर्तन यहाँ के प्राणियों को खासतौर से प्रभावित करता है। जाड़े का मौसम तो ये आग ताप-ताप कर काटते हैं। इनसे संबंधित गीतों में इनके वास्तविक जीवन का चित्र प्रस्तुत होता है।

पारिवारिक गीत––पति-पत्नी, पिता-पुत्र, देवर-भाभी से सम्बन्धित गीतों का अपना एक विशेष महत्त्व है।

अतिथि-सत्कार गीत––अतिथियों का सत्कार करना इनका एक विशेष गुण है। इस अवसर पर प्रायः ये गीत गाते हैं।

पुरुषार्थ तथा जीवन-दर्शन के गीत––पुरुषार्थ के सम्बल पर ही ये जातियाँ बिकट परिस्थितियों में भी जीवित रही हैं और इनका अपना एक जीवन-दर्शन बन गया है। इसकी अभिव्यक्ति भी ये गीतों में करते हैं।

शोक-गीत––कारुणिक स्थिति में ये अत्यधिक संवेदनशील शोक-गीत प्रस्तुत करते हैं।

जादू-टोना, तंत्र-मंत्र गीत––इन जातियों का विश्वास जादू-टोना और तंत्र-मंत्र में पारम्परिक रूप से रहा है। इससे संबंधित गीत अब लुप्त होते जा रहे हैं।

विकास गीत––आधुनिक सभ्यता तथा विकास-कार्यों के सम्पर्क में जैसे-जैसे ये जातियाँ आ रही हैं, इनकी रूढ़िवादी परम्पराओं–अनमेल-विवाह, मदिरापान आदि–में भी बदलाव आया है। इससे सम्बन्धित इनके गीतों में सामयिक चेतना का प्रवाह मिलता है।

वाद्य-यंत्र

मादल––ढोलक की तरह का यह वाद्य मिट्टी से निर्मित किया जाता है। 'घसिया' जाति मादल बनाने तथा बेचने का काम करती है।

सारंगी—यह सामान्य स्तर की होती है, जिसे ये स्वयं बनाते हैं।

खंजरी–प्रायः विकलांग आदिवासी इसे बनाकर, नाचते-गाते तथा भीख माँगते हैं।

ढोल—सामान्य ढोल से यह चार गुना बड़ा होता है।

ढोलकी—यह सामान्य वाद्य है। यहाँ के घने वनों से प्राप्त लकड़ी से वे इसे बनाते हैं। यहाँ की ढोलकियाँ देश भर में जाती हैं।

डफला—यह धरकारों का मुख्य वाद्य है। अकाल पड़ने पर ये लोग नगर में जाकर इसे बजाकर द्वार-द्वार भीख मांगते हैं।

मंजीरा—सामान्य रूप का होता है।

बंसुरी—सामान्य स्वर की होती है जिसे ये स्वयं कच्चे बाँस से बनाते हैं।

हारमोनियम—इसका प्रयोग कुछ वर्ष पूर्व से ही नृत्य में प्रारंभ हुआ है।

निशान—धरकार जातियाँ इसे बजाती हैं।

कड़ा-घुंघरू–कड़े के भीतर घुँघरू लगाकर इसे अगरिया जाति के लोग बनाते हैं।

घुंघरू—यह सामान्य स्तर के होते हैं।

मोरबाजा—प्रायः कोल, भील जातियाँ इसे स्वयं निर्मित करती और बजाती हैं। इसमें मुँह से स्वर निकालते हैं, जो बहुत ही अनूठा होता है।

नाट्य

यहाँ के नृत्य तथा लोकगाथाएँ नाट्य तत्व से परिपूर्ण रही हैं।

नृत्य के बीच-बीच में ये प्रहसन-नाट्य प्रस्तुत करते हैं। इसमें मौजूदा सामाजिक जीवन की विभिन्न समस्याओं पर हास्य-व्यंग्य के माध्यम से प्रहार किया जाता है। ये विभिन्न सामाजिक पात्रों की नकल भी करते हैं।

बादी जाति के लोग कठपुतली बनाते तबा नचाते हैं। यह नाट्य आदिवासियों में अत्यधिक लोकप्रिय रहा है।

कला

प्रागैतिहासिक कालीन चित्र—ये चित्र आदिम जनजातीय संस्कृति के प्रतीक हैं। इन चित्रों में इनकी सहज, स्वाभाविक और संवेदनशील कलात्मक वृत्ति के दर्शन होते हैं। ऐसे चित्र आदिवासी आज भी घर की दीवारों पर बनाते हैं।

भित्ति-चित्र—दीवारों पर ये घुड़सवार, हाथी-सवार, कहार-पालकी, नर्तक-नर्तकियाँ, बेलबूटे, कलश, अल्पना तथा विभिन्न पशुओं के चित्र बनाते रहे हैं।

अंग-चित्र—इनमें शरीर के विभिन्न अंगों पर गोदना गोदे जाने की परम्परा रही है, जिससे इनकी कलात्मक अभिरुचि के दर्शन होते हैं।

हस्तकला-कौशल—टोकरी बुनना, लकड़ी के पत्तों के आभूषण बनाना, दरी, चटाई आदि।

●

साक्षात्कार एक आदिवासी भील से

उस दिन कई गांवों की सैर करते हम लोग पुनः वहां पहुँचे। जो दवा तथा जड़ी-बुटियां बेचने का कार्य करते थे, आदिवासी थे। उनके शरीरका रंग काला था। उनकी ऊंचाई लगभग साढ़े चार फुट थी। नंगे बदन थे। धोती की कछनी काछे थे। उनके बाल जटा-जूट के रूप में बड़े-बड़े तथा घुंघराले थे। मांसपेशियां पुष्ट थीं। बालों में कई प्रकार के आभूषण पहने हुए थे। गले में कई प्रकार के मूंगों की मालाएं थीं। चाँदी के फ्रेम में मढ़ी बघनखा भी गले में पहने हुए थे। कानों में सोने के कर्ण-फूल थे। बाहों में कड़े तथा घुमची की बालियाँ थीं। कमर में मोरपंख की करधनी थी। बालों में भी मोरपंख लगा था। हाथ की उंगलियों में अंगूठियाँ पहने हुए थे। मूंगे की बड़ी माला, जनेऊ पहने हुएथे। बगल में धनुष बाण रखे हुए थे। पहले तो बड़ी देर तक मैं उन्हें देखता रहा, फिर पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है।'

उसने एक कागज दिखला दिया, जिसमें लिखा था—'लक्ष्मन राज बस्तरके आदिवासी भील।'

'यहाँ कैसे आये ?' मैंने दूसरा प्रश्न पूछा।

'पेट के लिए' पेट पिचकाते हुए उसने उत्तर दिया

'यह दवाका व्यापार कैसा है ?'

जड़ी-बूटियाँ हैं। इनसे हर प्रकार के मर्ज दूर हो सकते हैं। पुष्टई के लिए भी इनका सेवन किया जाता है। उसने कुछ अपनी बोली और कुछ खड़ी बोली का सहारा लेते हुए कहा।

अब मैं वहाँ बैठ गया और एक-एक करके कई प्रश्न मैंने पूछ डाले।

'आपका मुख्य भोजन क्या है ?'

'हम लोग आदिवासी हैं। बनों में रहते हैं। वहाँ जो मिलता हैं वही खाते हैं कन्द-मूल फल'

'कैसा कन्दमूल फल ?'

मेरे साथ चलो तो खिलायेगा, रामफल, लक्ष्मन कन्दा, सीताकन्दा, सूचक्र कन्दा, भेंड़ कन्दा।'

'अन्न में क्या खाते हो ?'

'मक्का, बासका चावल, यह चावल नहीं खाता जो आप खाता है।'

'क्यों ?'

'ये अच्छा नहीं लगता। भूख लगाता है।'

'पीते क्या हो ?'

'मधु, दूध, फलका रस, तसबकन्दाका रस, रामरस, साम्हर, हरिण का माँस भूनकर खाता है।'

'साम्हर-हरिणको कैसे मारते हो ?'

'तीर कमानसे, इससे शेर को मार गिराता है।' उसने तीर-कमान मेरे हाथ में रखते हुए कहा। 'कमान यह बाँस का बना है।' तीर यह टेढ़ा है। यह जानवर को लगता है तो जानवर मर जाता है। जहाँ घुस जाता है। बिना चीरे निकलता नहीं। तीर लगने पर जानवर भागता है तो यह और अन्दर घुस जाता है और घाव कर देता है।'

'पहनावा क्या है ?'

'कच्छा' पहले भोजपत्र पहनता था।'

'स्त्रियां क्या पहनती हैं ?'

'यही पहनती हैं। भोजपत्र या अब कपड़े की साड़ियाँ पहनती हैं।'

'गहना क्या पहनती हैं ?'

'बाला अधिक पहनती हैं। जड़ का बकल हाथ में पहनता है। कंगनका तरह। पांव तलक कमर में छालोंकी मालायें पहनती हैं। कानों में बालों में सोरा नड़ीके फूल पहनती हैं।'

'रहते कहाँ हो ?'

जंगल झाड़ियों में फूस की झोपड़ियां बनाकर रहते हैं।'

'क्या पूरा परिवार एक साथ रहता है ?'

'नहीं, जब शादी हो जाती है, तो परिवार अलग हो जाता है।'

'शादी कब और कैसे होती है ?'

'जब लड़का बड़ा हो जाता है तो उसका पिता उसके लिए लड़की खोजने जाता है, पसन्द आने पर शादी करता है। लड़की कोई निशान हाथ से पकड़ कर गद्दी पर बैठती है। लड़का उस पर तीर मारता है। निशाना ठीक बैठने पर ही शादी होती है। अपना पण्डित होता है, वह पूजा करता है। शादी के बाद पति-पत्नी नौ दिन के लिए बनवास करते हैं। नौ दिन के बाद दोनों घर आते हैं और अपनी झोपड़ी बनाकर अलग रहने लगते हैं। दोनों कमाते-खाते हैं।'

'अपना दिल बहलाव कैसे करते हों ?'

'वनों में घूमकर, शिकार खेलकर, नाच गाकर अपना मन बहलाते हैं। एक अलग स्थान होता है, उसमें मेहमान आकर रहते हैं। अपने लोग भी वहां जाकर नाचते-गाते और बजाते हैं। वहां मानर तथा दूसरे बाजे मृदंग आदि रखते हैं। खूब शराब पी लेते हैं, तब नाचते हैं। चलो हमारे यहां तो तुमको भी पिलायेगा और नाच दिखायेगा।'

'सरकार आप लोगों के लिए क्या कर रही है ?'

'बहुत कर रही है।'

उसने अपनी चमड़े की पेटी खोली और चित्र निकाल कर दिखलाया उसमें नृत्य-संगत का दृश्य था। इन्दिरा गांधी, वी० वी० गिरि, गोपाल स्वरूप पाठक, डाक्टर जाकिर हुसेन, दारा सिंह, राजीव, राज आदि के साथ लक्ष्मण राजका चित्र था। कहा—हम लोग सहायता लेना नहीं चाहते। अपना काम करके जी-खा लेते हैं। जड़ी बूटी बेचते हैं।" इनसे अंग्रेजी दवाइयां बनायी जाती हैं।

'आदिवासी किन-किन देवताओं की पूजा करते हैं ?'

"दन्तेश्वरी, काली, सन्तोषी माता, बजरंगबली (हनुमान) राम, लक्ष्मण, कृष्ण तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी देवताओं को मानते हैं। हम लोग तीन रंगके मूंगे की जनेऊ पहने हैं जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश का प्रतीक है। हाथ के कंगन में हनुमान की मूर्ति है।"

'आप लोग जनेऊ कब पहनते हैं ?'

'शादी के दिन दन्तेश्वरी की पूजा के बाद।'

'माला क्यों पहनते हैं ?'

'गले में तीन प्रकार की माला पहनते हैं। 1—स्वर्णमाला 2—बीच में जान की रक्षा के लिए मूंगे की माला पहनते हैं। 3—पच्छमा। सबसे छोटी गले से सटी होती है, यह पत्थर की होती है।'

'आप लोगों का पढ़ाई की ओर ध्यान है कि नहीं।'

'है अब बी० ए०, एम० ए० कर रहे हैं।'

'पढ़कर क्या करते हैं ?'

'खेती करते हैं, दवा बेचते हैं।'

'कौन-कौन सा बाजा बजाते हैं ?'

'मैजिक, सेवरी, भील का माटर, मृदंग, मोर सिंह।

वह आदिवासी मोर सिंह बाजा निकालकर बजाने लगा बाजा बजने के साथ-साथ वह गीत भी गाता जा रहा था। बाजा की ध्वनि अत्यन्त मधुर थी। मैंने पूछा—आप कौन-सा गीत गा रहे थे, जरा मेरे नोटबुक पर लिख दीजिये।

'मैं हिन्दी नहीं जानता।'

'अपनी ही लिपि में लिख दीजिये।'

'उसने कलम निकालकर मेरी नोट बुक में लिख दिया जिसका देवनागरी रूप इस प्रकार है।'

'चलने राजा जी चन्दा मामा,
नेके तल तेल चू ओ चन्दा मामा,
परमेश्वरी जड़ी लोमे ओ चन्दा मामा।

मैंने पूछा इसका क्या अर्थ है। उसने कहा गीत बहुत बड़ा है। अर्थ नहीं बता सकता। 'चन्दा उगता है, फिर डूब जाता है।' इसी से सम्बन्धित गीत था।

अब कुछ और पूछना शेष न था। मैंने कृतज्ञता के भाव व्यक्त करते हुए उसे एक रुपया निकाल कर दिया। वह लेना नहीं चाहता था, पर मैंने हठात् दे दिया उसने नमस्ते करते हुए कहा था कि आप बड़े भाग्यवान हैं, किन्तु फेर पड़ने के कारण एक इन्च आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। कल मिलियेगा तो एक जंत्र दूंगा। कल दस बजे यहीं पर मिलूंगा। मैंने कहा, ठीक है। मुझे लगा यह व्यक्ति ज्योतिष भी है।

दूसरे दिन अति वृष्टि के कारण हम लोग मिल न सके। और फिर आज तक मिल न सके।

शिकारी जनजातियां

कोल

भारत अनेक जातियों एवं धर्मो का देश है। यहां की संस्कृति अनादिकालीन है। भारतीय समाज जातिप्रथा के कारण अनेक वर्गों एवं सम्प्रदायों में विभक्त है। कोल एक ऐसी ही जनजाति है, जो अत्यन्त दीन-हीन अवस्था में जीवन-यापन करती है।

कोल पहाड़ी एवं जंगली जनजाति है। कोल-किरातों का नाम तुलसी ने लिया है--

"बन-हित कोल किरात-किसोरी।

रचीं बिरंचि विषय-रस-भोरी॥"

अन्य पुराने ग्रंथों में कोलों का नाम आया है। जनपदों के 'गजेटियर्स' में कोलों के विषय में लिखा गया है। क्रुक महोदय ने 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज' में कोलों के विषय में बहुत अधिक लिखा है। उनका सर्वत्र लड़ाकू और शिकारी जाति के रूप में उल्लेख किया गया है।

कोलों का आगमन

मीरजापुर में कोलों की संख्या बहुत अधिक है। ये लगभग पूरे जनपद में बसे हुए हैं। अहरौरा और उसके आसपास, घोरावल, अगोरी, सिंगरौली, जसौली तथा मड़िहान आदि स्थानों में इनकी बहुलता है।

पहले ये रीवां के जंगलों में रहा करते थे। आज भी, वहां इनकी संख्या कम नहीं है। ये रीवां से ही यहां आये और बस गये। इनका कहना है कि इनके पूर्वज सर्वप्रथम अहरौरा के आसपास आकर बसे थे। राजा गुलाब सिंह के समय में, रीवां में एक बार भयंकर अकाल पड़ गया था। उसी समय जीविकोपार्जन के लिए वे यहां आये।

लगता है, मीरजापुर में इनका आगमन दो मार्गों से हुआ है। एक पश्चिमोत्तर से तथा दूसरा पश्चिम और दक्षिण से। पश्चिमोत्तर से आनेवाले कोल लालगंज, अहरौरा, मड़िहान में आकर बस गये। पश्चिम और दक्षिण से जो यहां आये, वे सोन के किनारे जहां भी स्थान मिला, आकर रहने लगे। गढ़पिपरी, उत्तर की ओर से इनकी वंशावली चली है, ऐसा भी कहा जाता है। कोलों की कुछ उप जातियां हैं। जैसे, ठकुरिया, ममासा, रउतिया तथा रजवाड़े आदि। कभी के ये राजा थे तथा शासन भी करते थे, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। लोकगाथाओं में विजयगढ़ राज्य पर कोलों का शासन होने का उल्लेख मिलता है। जो भी हो, इन बातों से स्पष्ट है कि कोल जाति कभी विकसित एवं समृद्धशाली जाति थी। आज इसकी दशा दयनीय है।

रीति-रिवाज तथा रहन-सहन

कोल अपनी जाति तथा गोत्र में ही विवाह-सम्बन्ध करते हैं। विवाहोपरान्त इनका परिवार अलग हो जाता है। इनका परिवार प्रायः छोटा होता है। ये अपने लड़कों तथा लड़कियों का विवाह प्रायः दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में कर देते हैं। इनमें दहेज-प्रथा नहीं है। लड़की वाला कुछ धन या सामान लड़के वाले को देता है। पति या पत्नी के मर जाने या एक द्वारा दूसरे को छोड़ दिये जाने पर दूसरा या तीसरा विवाह हो जाता है। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर विवाह कर लेते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में देवान या चौधुरी उन पर डांट-फटक (अर्थ दण्ड) लगा देता है। कोई किसी के घर भोजन कर ले, बदमाशी चोरी में पकड़ा जाय, किसी की बेटी रख ले, तो भी वह दण्डित किया जाता है।

उनमें बिरादरी प्रथा भी प्रचलित है, जिनकी समय-समय पर सभाएं आयोजित होती हैं। सभा ही दण्ड निश्चित करती है। दण्ड के पैसे से टाट, दरी, बर्तन आदि सार्वजनिक वस्तुएं क्रय की जाती हैं। ब्राह्मण, नाई ही उनका विवाह कराते हैं। विवाह की वैदिक और लौकिक दोनों विधियां प्रचलित हैं।

धार्मिक विश्वास एवं परम्पराएं

कोल बड़का (बड़ा) देव की पूजा करते हैं। पूजा में नारियल, चुंदरी तथा मिठाई आदि चढ़ाने की प्रथा है। टोना तथा भूत-प्रेत ये अधिक मानते हैं। ओझइत या ओझा भूत-प्रेत की पूजा करते हैं। उनकी धारणा है कि भूत-प्रेत से मुक्ति उन्हें उनके ओझइत से ही मिल सकती है। वे चाहें तो उनके हर संकट का निवारण कर सकते हैं। दवा-दारू पर उनका उतना विश्वास नहीं है, जितना ओझाई-देवाई पर।

वे डीह तथा ब्रह्म की पूजा करते हैं तथा उन्हें प्रसन्न रखने के लिए मुर्गा, सूअर या बकरा चढ़ाते हैं। वे मन्दिरों में नहीं जाते, किन्तु तीर्थाटन, गंगा-स्नान करते हैं। ये पड़िहा दखिनही की भी पूजा करते हैं। इनका कहना है कि सबरी, जिसके यहां भगवान् ने जूठा बेर खाया था, बिरम्ही (ब्रह्म की स्त्री) देवी की लड़की थी।

सवरी की शादी में मुर्गे, बकरा मारकर खाने के लिए इकट्ठा किये गये थे। इस पर सवरी विवाह-मण्डप छोड़कर भाग गयी। उसे जीवों को मारना पसन्द नहीं आया। उसने बारह वर्ष तक वन में जाकर घोर तपस्या की। वह पका बेर लाकर अपनी कुटिया में रखती थी और उसी से आगन्तुकों का स्वागत करती थी। बारह वर्ष बाद राम वहां पहुंच गये। उसकी भक्ति पर प्रसन्न होकर राम ने उसका जूठा बेर खाया और वर मांगने को कहा। उसने कुछ भी नहीं मांगा, सिर्फ बेर खिलाती गयी। भगवान ने जब वर मांगने का हठ किया तो उसने बिरम्हीं की पूजा का वर मांग लिया। इसके बाद वह प्राण-शून्य हो गयी। भगवान् ने वहीं पर उसका क्रिया कर्म किया। तभी से कोलों में बिरम्हीं और सवरी की पूजा भी प्रचलित है। कोल मुर्दों को जलाते हैं।

ये प्रायः नंगे बदन या लंगोट तथा बिहटी पहनकर रहते हैं। स्त्रियां मोटी साड़ियां पहनती हैं। वे कड़ा, हैकल, बाजू, हंसुली, कंगन आदि आभूषण भी पहनती हैं। पुरुष गले में 'तावीज' जंतर (जन्त्र) पहनते हैं। सुहागन स्त्रियां सिन्दूर, चूड़ीसे अपना श्रृंगार करती हैं। पतिके मर जाने पर प्रायः स्त्रियां श्रृंगार नहीं करतीं। सिन्दूर पोछ देतीं तथा चूड़ी भी फोड़ देती हैं। किन्तु पतिके प्यार (विवाह) के ही दिन जब देवर चूड़ी पहना देता है तो पहन भी लेती हैं। किन्तु सिन्दूर तब भी नहीं लगातीं। पर्वो तथा त्योहारोंपर स्त्री-पुरुष दोनों श्रृंगार करते हैं।

कोलोंका खानपान साधारण है। वे अन्नमें कोदो, सावां मेझरी, मकई, बाजरा आदि खाते हैं। चावल दाल, गेहूं वे कभी-कभी पाते हैं। दूध फल खाने को नहीं मिलता। शराब पीते हैं। दूध तो बच्चोंको भी कभी नसीब नहीं होता। वे जंगली फल तथा कंदमूल आदि खाते हैं। ये स्वभाव से मांसाहारी होते हैं तथा जंगली जानवरों का शिकार करते हैं।

इनका आचरण निश्छल तथा पवित्र है। आन पर मिटने में ये संकोच नहीं करते। ये विनम्र तथा विनयी होते हैं। अपने मालिक या अन्य किसी को झुककर प्रणाम करते हैं।

कोलों के आमोद-प्रमोद का कोई विशेष साधन नहीं है। वे शिकार खेल कर अपना मनोरंजन कर लेते हैं। इनमें नाचने-गाने तथा बजाने का भी शौक है। रात में एकत्र होकर लोक गीतों तथा लोक नृत्यों के द्वारा ये अपना मनोरंजन करते हैं। कोलदादर कोलदहकी इनका प्रसिद्ध लोक गीत है जिसे स्त्री-पुरुष दोनों मिल कर गाते हैं। ढोल मजीरा आदि बाजा बजाते हैं। इनके गीतों में इनके जीवन की झांकी मिलती है——

"टूटा तिरिन न जूटै, न जूटै टूटा नात।
मरा भाई ना मिलिहैं करऽतू कोटि उपाय।

सब केहू रही न मिलिजुलि,
समवां बइठी न का करनऽ बइरी हमार ।
समवा में भइया दुलम होइ जाइ ।"

इस गीत में भाई के बिछोहका वर्णन है । जिस प्रकार टूटा हुआ तृण नहीं जुड़ पाता, उसी प्रकार टूटा हुआ नाता भी नहीं जुड़ता । कोई कोटि करे, मरा हुआ भाई फिर नहीं मिलता । तुलसी ने भी तो लिखा है—'मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता ।'

कोलों में शिक्षितों की संख्या बहुत कम है । उनका मानसिक स्तर अत्यन्त गिरा हुआ है । उनमें साक्षरों की भी कमी है । वे इतने पिछड़े हैं कि पाठशालाओं में अपने बच्चों को भेजना नहीं चाहते । बच्चा दस वर्ष का हुआ नहीं कि किसी की हलवाही करने लगता है । हलवाही करते-करते वह स्वयं मालिक का बन्हुआ हो जाता है अर्थात् मालिक का कर्जदार होने के कारण जीवन पर्यन्त उसी का कार्य करने के लिए बाध्य हो जाता है । एक प्रकार से वह क्रीतदास हो जाता है । यही दशा स्त्रियों की भी होती है ।

रोज कुआं खोदना रोज पानी पीना इनका नित्य का काम है । बीमार पड़ने पर जब ये काम पर नहीं जाते, घर के सभी प्राणी भूखों मरने लगते हैं । मालिक इन्हें दिन भर काम करने पर पारिश्रमिक दो किलो सावां कोदो दे देता है । ये जो पाते हैं उसी दिन खा जाते हैं । कल के लिए कुछ रख ही नहीं पाते । इनके पास निजके खेत नहीं हैं । चकबन्दी से लाभ का ढिंढोरा पीटा जा रहा है, किन्तु इन लाचार बेचारों का तनिक भी लाभ नहीं हो रहा है ।

जो हलवाही नहीं करते, वे बीड़ी पत्ती तोड़कर, महुआ बीन कर, दोना-पत्तल बना बेचकर अपनी जीविका निर्वाह करते हैं । बच्चे भीख मांगते हैं और स्त्री-पुरुष मिट्टी आदि खोदकर मजदूरी करते हैं । ये रंग-रूप से काले-कलूटे किन्तु स्वस्थ होते हैं । स्त्रियों का स्वास्थ्य भी अच्छा होता है तथा ये पुरुषों के कार्यों में सहयोग करती हैं ।

दुखी जनजीवन

कोल एक शोषित जाति है । यह जाति आज भी भूखों मर रही है । उसकी जीविका का कोई ठोस साधन नहीं है । इन पर अन्याय अत्याचार ढाये जा रहे हैं, किन्तु किसको समय है जो इनकी ओर दृष्टि डाले । 25 वर्षों के बाद भी इनकी दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । ये विवश लाचार हैं । इनको कोई काम नहीं मिलता ।

कोल मीरजापुर की प्रमुख आदिवासी जाति है । अहरौरा में कोलों का निवास स्थान ही नहीं था, अपितु राज्य भी था । जब अमीर राजाओं का इस पर आक्रमण हुआ तो कोल भागकर जंगलों में चले गये । सक्तेशगढ़ में आज भी एक प्राचीन दुर्ग है जिसे

शक्ति सिंह ने अकबर के कार्यकाल में कोल जाति पर नियंत्रण रखने के लिए बनवाया था। कोल शक्तिशाली जाति थी और उस पर नियंत्रण पाना आसान न था।

शक्ति सिंह के आक्रमण के समय सक्तेशगढ़ से पूरब एक परगना का नाम कोलना था। वहाँ कोलों का आधिपत्य था। आज भी वहाँ के एक स्थान का नाम 'कोलना' है।

तात्पर्य यह कि कोल जाति कभी विकसित जाति थी, आज दैवदुर्विपाक से उनकी दशा दयनीय हो गयी है। उन्हें ऊंचा उठाने का हम सबका प्रयास होना चाहिये। उन्हें शोषण से मुक्त करना चाहिये। उनमें शिक्षा का प्रचार प्रसार करना चाहिये। उन्हें भी वे सभी सुविधाएं प्राप्त होनी चाहियें, जो एक देश के स्वतन्त्र नागरिक को प्राप्त होती हैं।

●

कोरवा

कल्पना कीजिए कि आप किसी आदिवासी-क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। वहां आपका कोई नहीं है। केवल घनघोर जंगल में रहने वाले आदिवासी हैं। आप किसी बस्ती में पहुँचते हैं वहाँ नंग-धड़ंल रहने वाले या विहटी पहिनने वाले लोग हैं। आप उनके परिवार को देखकर हँस भर देते हैं और वे दौड़ा लेते हैं मारने के लिए, तो आप क्या करेंगे? इसका आपके पास कोई जवाब नहीं है और सचमुच उनसे बच निकलने का कोई उपाय भी नहीं है।

एक घटना याद आती है। हमलोग दुद्धी के उस इलाके में गये हुए थे जहाँ कोरवा जाति के आदिबासी रहते हैं। झारो गांव के निवासी विश्वनाथ त्रिपाठी (अध्यापक) ने बताया कि यह बड़ी खुँखार, खतरनाक जाति है। इस जाति के लोग घने जंगलों में रहते हैं जहाँ आज की सभ्यता की कोई किरण पहुंच तक नहीं सकी है। वे फूस कीं झापड़ियों में प्रायः नंगे ही रहते हैं। जानवरों का, प्रायः बन्दरों का शिकार करते हैं। इनके बीच कोई जाता है तो उसका शराब और शिकार से स्वागत भी करते हैं, किन्तु क्या मजाल कि आप उनकी बहू-बेटी से मजाक कर दें या उनकी नग्नता पर हँस भर दें, आप बच कर जा नहीं सकते। उनके विष-बुझे तीर के सीधे शिकार बनेंगे।

सुनते हैं अशोक के शासन-काल में घरों में ताले नहीं लगते थे, यहाँ भीं ताले लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इनकी झुग्गियों में एक-दो बर्तनों के अतिरिक्त है क्या जो चोर चूराकर ले जायगा। इनके घर में एक भी ओढ़ना-बिछोना नहीं है। पुआल या

फूस ही इनका ओढ़ना-बिछौना है। ठंड लगी तो आग जला कर ताप लिया। भूख लगी तो कन्द-मूल-फल या चकवड़ का साग और महुआ पकाकर खा लिया। मैंने एक से पूछा—"बच्चों को स्कूल क्यों नहीं भेजते ?" तो उसने दो टूक कहा था—"भगवे के उसकूल बतइबे। का होला उसकूल रे ?"

"लड़िका पढ़ते हैं नऽ।"

"पढ़त होई रे...." कहते हुए वह उपेक्षित भाव से मुड़कर चला गया था।

कोरवा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, मध्यप्रदेश के जशपुर और बिहार के पलामू जिले में पाये जाते हैं। उत्तर प्रदेश के कोरवा मिर्जापुर के कुछ हिस्सों, जैसे दुद्धी परगना तथा सरगुजा की उत्तरी सीमा में पाये जाते हैं। ये बिहार के बांका थाना में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। तब भी, इनके इने-गिने परिवार हैं। एक सर्वे के अनुसार मिर्जापुर में 52 परिवार हैं, जिनकी कुल जनसंख्या 500 से भी कम है।

पहाड़ी और डीहा इनकी दो उपपजातियाँ हैं। पहाड़ी पहाड़ों पर और डीहा मैदानी भाग के किसी टीले पर रहते हैं। ये जहाँ हीं भी रहते हैं, अकेले रहते हैं, अन्य जातियों में घुल-मिल नहीं पाते। इनकी अपनी भाषा-बोली है। ये चिड़ियों का शिकार करते हैं, खेती नहीं करते। शिकार भी ये विचित्र तरह से करते हैं। रात के समय जब चिड़ियाँ या बन्दर रैन-बसेरा के लिए पेड़ों पर अपने घोसले में आ जाते हैं तो ये अपना धनुष-बाण या लम्बी लकड़ी लेकर चलते हैं। बांस या लकड़ी में पुआल या पत्ता बाँध कर असमें आग लगा देते हैं, फिर उसे पेड़ के ऊपर दिखाते हैं, चिड़िया या बन्दर बैठा हुआ दिखाई पड़ता है तो दूसरा आदमी तीर से मारता है और बन्दर लुढ़क कर नीचे चला आता है। इसी तीर-कमान से वे भालू, शेर, चीता आदि को भी दौड़ा कर मार डालते हैं। फिर उसे घर लाकर बिना मसाला के पका कर खा जाते हैं। हम लोगों ने उनके कई घरों को देखा है पर किसी में अनाज नहीं देखा।

कोरवा कोरवा जाति में विवाह कर लेता है, उपजाति में भी विवाह हो जाता है। वे इसके बीच क्रास कजन अवस्था में विवाह करते और अलग हो जाते हैं। इनके यहाँ यौन-सम्बन्ध का कोई मतलब नहीं होता। जब एक ही झुग्गी में पूरे परिवार को रहना है और नंगे रहना है तो उसमें दुराव-छिपाव क्या ? दहेज का भी सवाल इस-लिए पैदा नहीं होता कि देने के लिए कुछ होता ही नहीं। इनमें विधवा-विवाह और तलाक की प्रथा प्रचलित है। शादी तीर-कमान चलाकर तय होती है। लड़की लड़के से किसी स्थान पर निशाना लगाने के लिए कहती है, जब लड़का निशानेबाजी में सफल होता है तभी शादी होती है। इसका मतलब यह ज्ञात करना होता है कि लड़का शिकार करके लड़की की परवरिश करने में समर्थ है अथवा नहीं। यदि नहीं तो विवाह नहीं होगा।

कोरवा किसी झगड़े का निपटारा पंचायत द्वारा करते हैं। मुखिया या पंचों की बात मान्य होती है। ये मृत शरीर को जलाते हैं और गाड़ते भी हैं। चेचक, प्लेग से मरे या साँप-काटे व्यक्ति को ऐसे ही जंगल में फेंक देते अथवा जल में प्रवाहित कर देते हैं। ये नागदेव की पूजा करते हैं। इसके अतिरिक्त सूर्य, चण्डी और ज्वालामुखी देवी की भी। ये आग को भी देव मानते हैं।

इनके मनोरंजन का मुख्य साधन करमा है। करमा के अवसर पर ये नृत्य-संगीत का वृहत् आयोजन करते हैं। स्त्री-पुरुष सभी एक साथ रातदिन नाचते हैं।

उनके साहित्य और संगीत में उनके जीवन की विसंगतियां मुखरित होती हैं। एक आदिवासी आयोजन में गायी गयी करमा की ये पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं--

"कउने नगरिया कइले जाले,
जिया माहुर भइले रे।
हरदी नगरिया के सखी-सहेली,
साहर नगरिया कइले जालू।
केहू त खोजत एहरी-डेहरी--
केहू त खोजत खोरिया घूमे रे।
माई खोजत एहरी,
बहिन खोजत डेहरी
बाप-भइया खोजे खोरिया घूमे रे।
जिया माहुर भइले रे।"

मांदल के स्वर-संग गूंजती इन पंक्तियों में लड़की की विदाई की बात कही गयी है। लड़की विदा हो गयी है, अतः माता-पिता, भाई-बहिन का जीवन जहर हो गया है। माँ-बहिने घर के कोने में उसे ढूंढ़ती हैं तो पिता-भ्राता गाँव की गलियों में। ऐसे ही उनके जीवन के अनेक चित्र उनके गीतों में देखे जाते हैं।

●

घसिया

आदिवासियों में एक जाति है--घसिया। यह जाति प्रमुख रूप से मादल (आदिवासियों का वाद्य विशेष) बनाने, उसे बेचने तथा बजाकर, नाचकर मांगने-खाने का काम करती है।

आदिवासियों के प्रायः हर पर्व पर पुत्र-जन्म, अन्नप्राशन, जनेऊ, ब्याह, गवन और मृत्यु आदि संस्कारों के अवसर पर नाच-गाने का आयोजन किया जाता है। नाचने-गाने में घसिया जाति को विशेष पटु माना जाता है। अतः दूसरी जाति

वाले भी ऐसे अवसरों पर उन्हें बुलाते हैं, और अपने दरवाजे पर नृत्य का बृहत् आयोजन करते हैं। नर्तक कभी-कभी तो चौबीस घण्टे तक लगातार नृत्य करते रह जाते हैं। इस नृत्य के बदले उन्हें पुरस्कार, अन्न या रुपये के रूप में पारिश्रमिक तथा उत्तम कोटि का आमिष भोजन तथा दारू पीने के लिए देते हैं। घसिया पेशेवर नर्तक होते हैं, इसलिए ऐसे अवसरों पर वे स्वयं भी पहुँच जाते हैं। वे नाचते-गाते हैं जिसके बदले में साल के अन्त से उन्हें ख़रवन-पताई दी जाती है। यानी फसल तैयार होने पर गौहां या मालिक अपने खलिहान से ही प्रायः पाँच किलो अनाज निकाल कर दे देता है। प्रायः हर घर से अनाज मिलता है और उसी से उनका वर्ष भर का खर्च चलता है। घसिया अपने खाली समय में मादल बनाने-बेचने या गांव-गांव जाकर द्वार-द्वार नृत्य करने का काम भी करते हैं। जब इनके यहाँ कोई त्योहार या पर्व पड़ता है तो अपने साले या बहनोई को नाचने-गाने के लिए बुलाते हैं।

घसिया अब खेती-बारी भी करने लगे हैं। भूमिहीनों को कुछ जमीनें दी गयी हैं। सत्तर वर्षीय सोमारू ने बताया कि 'बाबू पहिले हमनी भिखमंगिया कइके जीयत रहलीं, खण्डा-टुक्का खाके जीयत रहलीं। मालिकन क नोकरी बजाबत रहलीं त दू सेर, बन्नी पावत रहलीं। अब लड़िका-बच्चा करखन्ना में डिउटी बजावइ लगनऽत आप सभे के दुवा से पेट भरइ लगल। अब बेगारी नाहीं करइ पड़त। करजा - उवाम सरकार दूर कइ देलेस। अनियोदय (अन्त्योदय) में हमनी के रेसका मिलल बा। बेटउन दस-पांच कमाके ले आवेला। कमाइ खाइ के सूति रहीं ला जा।"

उत्तर प्रदेश के अलावा घसिया मध्य प्रदेश के सीधी तथा बिहार के कुछ जिलों में रहते हैं। वे खेती के अतिरिक्त शिल्प का काम भी करते हैं। जैसे भैंस या भैंसा की सींग से कंघी बनाना, जिन्होंरा के डन्ठल, बांस या लकड़ी से कंघी बनाना, खजूर, बांस अथवा सींके से चटाई, परदा, डलिया बनाना आदि। ये जंगल का फल-फूल एकत्र करके बेचते और उससे अपनी अतिरिक्त आय बढ़ा लेते हैं। ये कहीं-कहीं गोचारण और हलवाही का काम करते हैं। पहले ये प्रायः नंगे या बिहटी पहनकर रहते थे, किन्तु अब धोती-कुर्ता पहनते हैं। अपने बच्चों को साफ-सुथरा रखते तथा उन्हें स्कूलों में भेजना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उनकी शैक्षिक तथा सामाजिक आकांक्षाएं ऊंची हुई हैं। उनके भीतर की हीन भावना धीरे-धीरे समाप्त हो रही है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अब इनमें स्वयं उठने और प्रगति करने का भाव जगा है। अब इनका कोई खुलेआम शोषण नहीं कर सकता। ये अपने हकों के लिए लड़ाई लड़ने को तैयार रहते हैं।

अन्य जातियों की तरह घसिया में भी सात कूरी (उप जातियां) होती हैं। ये प्रायः अपनी ही कूरी में ब्याह करते हैं। इनका ब्याह कराते हैं कटहा (महापात्र ब्राह्मण)। वेही पूजा-पाठ भी कराते हैं। इनका दुल्हा बारात के साथ पैदल ही ब्याह

करने जाता है और दुल्हन भी पैदल ही आती है। ब्याह के अवसर पर लड़का वाला ही ज्यादा पैसा खर्च करता है। लड़की वाले वर को थाली, लोटा, कटोरा, गिलास और यदि सम्भव हुआ तो पशु भी दहेज में देते हैं। किन्तु दहेज इनके यहां अनिवार्य नहीं, स्वेच्छया है। ये जन्म, अन्नप्राशन, मुण्डन, ब्याह, गवन और मृत्यु संस्कारों को मानते हैं। मुण्डन के अवसर पर झलरी (बाल) उतारने का त्योहार विधिवत मनाते हैं। मुण्डन के बाल की मनौती के अनुसार देवी-देवता को चढ़ाते हैं। बिरादरी को भोज देते हैं।

घसिया अउंड़ी, ज्वालामुखी, बघउत, बनसत्ती, काली माई, शारदा, नीलकण्ठ (शिव) आदि की पूजा करते हैं। महुआरी के पास एक पहाड़ पर इनका एक पुराना विशाल मन्दिर है जिसमें शिव की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। ये उसकी विधिवत नाच-गाने के साथ पूजा करते हैं। ये बलि भी चढ़ाते हैं। पितृ-पूजा करते हैं। इनकी प्रगति के लिए सरकार को निम्नलिखित उपाय करने चाहिए—

(1) इनके परंपरागत उद्योग धन्धों–जैसे मादल, कंघी, चटाई, डलिया आदि बनाने, उसे आधुनिक ढंग से विकसित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाएं तथा आवश्यकतानुसार ऋण या अनुदान भी दिया जाय।

(2) इन्हें तथा इनके बच्चों को उपयोगी शिक्षा दी जाय।

(3) इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं को क्रय करने की व्यवस्था सरकार स्वयं करे।

(4) इन्हें स्थानीय उद्योग-धन्धों में काम दिया जाय।

(5) इनका साहित्य धनी है, उसे संरक्षण प्रदान किया जाय।

इनकी बोली में हिन्दी के शब्दों का बाहुल्य है 'ड़' का 'र' 'भ' का 'ब' का रूप प्रायः मिलता है। जैसे—लरिका-लड़का, खिरकी-खिड़की, टूट गइल पउवां लरकावे आदि में भोजपुरी का प्रभाव है तो डोलत हैं में रीवां की बोली का। 'छमाछम', 'घुटुरघू'' सर-सर-सर-सर आदि ध्वन्यात्मक शब्दों की भी बहुलता पायी जाती है। घसिया की उप जाति बादी जो पलामू तथा सरगुजा में पायी जाती है, की बोली पर बिहारी का प्रभाव है। जैसे—'बरवा के पकते पिपर पाक गइले हो' 'सींक खोटइ गइली ओही सींक बनवां में' आदि।

•

पनिका

एक ट्रक पर लदी दुद्धी तहसील की कुछ आदिवासी स्त्रियां एक गीत गा रही थीं—

"सुखिया चिरइया सुख नींद सोवै रे,
दुखिया चिरइया दुख सेवै रे।

ये दोही पंक्तियां कानों में सुनाई पड़ीं कि ट्रक आगे बढ़ गयी। यह ट्रक किसी ठीकेदार की थी जो मिट्टी और पत्थर ढोने का काम करती आदिवासी स्त्रियां और बच्चे इन ट्रकों पर अधिक काम करते हैं। पूछने पर पता चला कि इनकी दिन भर की मजदूरी, स्त्रियों की ढाई-तीन रुपये और बच्चों की डेढ़ या दो रुपये पड़ती है। जाड़ा हो चाहे गर्मी, पानी बरसे चाहे पाला पड़े, इन्हें तो रोज कुआं खोदना है और रोज पानी पीना है।

ऊपर की दो पंक्तियों में यहां के आदिवासियों का समग्र जीवन चित्रित है। दुद्धी में दो तरह के लोग हैं-एक सुखी, दूसरे दुखी। सुखी हैं यहां के ठीकेदार, दुकानदार सेठ, साहूकार अथवा बड़े गृहस्थ या अधिकारी जो इन निरीह गरीबों का शोषण करते हैं और दुखी यहां के आदिवासी हैं जो बंधुआ जीवन जीते हैं, जिनके पास न तो पहिनने के लिए कपड़े हैं और न खाने के लिए रोटियाँ। बसने के लिए जमीन तक इनके पास नहीं है।

सड़क छोड़कर हम आदिवासी बस्ती में चले जाते हैं। कुल 35 झुग्गियां हैं यहां। एक दो के मकान खपड़ैल के भी हैं। थोड़ी ही देर में कुछ नंग-धड़ंग बच्चे हमें अजनबी समझ कर निहारने लगते हैं। काले-कलूटे हैं, नकबहने हैं, नकचिपटे हैं, घुंघराले बालों वाले हैं, उनके बाल सूखे हैं, शायद उनमें कभी तेल लगने का अवसर ही नहीं आया है। अतिबल जी उनकी ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगते हैं अपना ताम-झाम लिये। वे क्या जाने कि वे इनकी फोटो खींचना चाहते हैं। बच्चे नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। 'अरे, सुनो-सुनो गुड़ खाने को दूंगा' वे झोले में हाथ डालकर बिस्कुट का एक पैकेट निकाल कर दिखाते हैं तो वे और दूर भाग जाते हैं। बिस्कुट का पैकेट जैसे उनके लिए पिस्तौल हो।

तब तक एक लम्बा तगड़ा, कालाकलूटा, सिर पर पत्ते की बनी टोपी और कमर में बिहंटी पहिने एक आदमी कांटों से घिरे अपने आंगन में खड़ा हो जाता है। घूरने लगता है वह हम लोगों की ओर। हम डर जाते हैं। सुना भी था कि ये कभी-कभी दौड़ा भी लेते हैं। खैर, ऐसी नौबत नहीं आती है। हम धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ने लगते हैं। पास पहुंचने पर शेख साहब पूछ बैठते हैं—''का दादा! का नाम बा तोहार।'

'का करबे नाम पूछ के?'

'थाने ले जायी।' उसके घर के अन्दर से किसी दूसरे का स्वर सुनाई पड़ा।

'नाहीं-नाहीं। हम सिपाही नहीं हैं। हम अखबार में लिखते हैं तुम लोगों के बारे में लिखेंगे।' पटेल जी ने समझाते हुए कहा था।

'का करबे हमनी के पूछ के? हमनी मंगता-खाता, गरीब बायी। जीयत खात बायीं। हम का जानी अकबार-ओकबार।'

'का नाम बा, का जाति बा तोहार बुढ़ऊ ?' मैं उन्हीं की बोली में पूछ बैठता हूं ।

'का करबे नाम लेके ? कउनो गलती कइले बायी ?'

यहां के आदिवासी पुलिस वालों और बन-बिभाग के कर्मचारियों से बहुत डरते हैं । ये लोग उन्हें बहुत सताते और झूठे ही फंसाकर उनसे रुपये ऐंठ लेते हैं । उन्हें मारते-पीटते हैं । भूतपूर्व एम० एल० ए० रामप्यारे पनिका ने बताया कि जिस जमीन पर सैकड़ों वर्षों से उनका कब्जा है, वह भी वर्ग चार की है, यानी उस पर वन-विभाग का अधिकार है । वन-विभाग के कर्मचारी उस जंगल से लकड़ी क्या दातून भी तोड़ने नहीं देते । ये वनवासी जंगल से ही जीते हैं । लकड़ी-पत्ता ही इनका जीवन है, किन्तु अब उन पर भी रोक लग गयी है जिसके कारण यहां के आदिवासी दुखी जीवन ब्यतीत कर रहे हैं ।'

इस क्षेत्र में अधिकतर पनिका जाति के लोग निवास करते हैं । ये शिकारी होते हैं तथा तीर-धनुष से जंगली जानवरों का शिकार करके अपनी जीविका चलाते हैं । इनमें से कुछ हलवाही-चरवाही या मजदूरी करके भी जीवित रह लेते हैं । बहुत थोड़े खेती भी करते हैं, किन्तु असिंचित क्षेत्र होने के कारण कुछ खास पैदावार नहीं होती । 90 प्रतिशत आदिवासी औसत जीवन-स्तर से भी नीचे का जीवन जीते हैं । इनके अपने मकान नहीं हैं । कंद-मूल-फल खाकर जीते हैं ।

इसी गांव में एक घर खेलावन पनिका का है । खेलावन के परिवार में तीन बच्चे, एक स्त्री यानी पाँच सदस्य हैं । खेलावन अकेले कमाता है और सभी प्राणी खाते हैं । उसने बताया कि बुढ़िया काम लायक नहीं रह गयी है । एक लड़की है किन्तु लंगड़ी होने के कारण कुछ भी करने में असमर्थ हैं । बेटा काम मिल जाने पर दो-ढाई रुपये कमा लेता है । मैं हलवाही करता हूं । 2 किलो अन्जा कोरंजा रोज पाता हूं । काम नहीं रहता तो वह भी नहीं मिलता । खाली समय में लकड़ी-पत्ता काट कर काम चलता हूं ।'

जब हम लोग चौथे घर में पहुंचे तो देखा एक बुढ़िया महुआ पका रही थी । एक चार वर्ष का बालक प्रतीक्षा में था कि कब महुआ पके और कब खाने को मिले । बुढ़िया ने बताया कि वह भी पनिका जाति की है । उसका जवान बेटा ठीकेदार का काम करता है—वही पत्थर तोड़ने का 14 रुपये रोज कमाता है । पतोहू भी वही काम करती है और ढाई रुपये रोज कमाती है । मैं महुआ-डहुआ बीनती हूं और बच्चों का देख-भाल करती हूं ।"

इसी प्रकार और भी कई परिवारों का जीवन देखा । सरई-महुआ, चकवड़ यहां का खाद्य है । चकवड़ का साग खाकर लोग बीमार पड़ जाते हैं, किन्तु क्या करें मजबूर हैं, खाने के लिए ।

इतनी आर्थिक विषमता के बाद भी यहां के आदिवासी मस्ती का जीवन जीते हैं। दिन भर अथक परिश्रम करके शाम के समय जब अपने घर जाते हैं तो वे कौड़ा के पास बैठकर किस्से कहानियां कहते हुए रात काट लेते हैं। कभी-कभी लोरिकी, बिरहा, करमा आदि का आयोजन भी कर लेते हैं। वे नाचते हैं—गाते हैं, नाटक और खेल-तमाशे करते हैं। इनका मुख्य वाद्य है मादल। मादल का स्वर जब गूंजता है तो लगता है, ये सारे दुख-दर्द भूल जाते हैं।

सूअर का मांस खाकर, शराब पीकर ये गांव में किसी एक स्थान पर रात में एकत्र होते हैं। वहां बड़े-बूढ़े भी आते हैं और आपसी झगड़े का निबटारा भी पंचायत करके स्वयं कर लेते हैं। थोड़े मुकदमेबाज भी होते हैं।

आदिवासी स्वभावत: हठी, दुराग्रही, कठोर, होते हैं, किन्तु वे परिश्रमी, साहसी, ईमानदार तथा बात के धनीं भी होते हैं। उनमें एकता तो इतनी होती है कि मुखिया यदि आदेश दे दे तो वे गांव के गांव लूट लें। पर ऐसा वे करते नहीं हैं। वे दूसरों के काम में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते और न अपने काम में किसी और का हस्तक्षेप चाहते हैं। वे मन के मौजी और अपनी परिस्थितियों में जीने-मरने वाले होते हैं।

●

अगरिया

अगरिया उत्तर प्रदेश की पिछड़ी जनजातियों में से एक है जो मिर्जापुर जिले के दुद्धी तहसील में न जाने कब से निवसित है। मध्य प्रदेश और बिहार के कुछ भागों में भी यह जाति पायी जाती है।

व्यवसाय

अगरिया कारीगर वर्ग की जनजाति है जो मिट्टी या पत्थर के अन्दर से कच्चा लोहा छानकर निकालती है। उस लोहे को पकाकर फावड़ा, कुदाल, गोंइटा, गगरा, बाल्टी, चाकू, सरौता, करछुल आदि बनाने का काम करती है। यह जाति लोगों के कृषि सम्बन्धी औजारों की मरम्मत करती है जिसके बदले फसलों के अन्त में कुछ अनाज प्राप्त करती है।

इस जाति के लोग कभी-कभी शहरों या कारखानों में लगने वाले साप्ताहिक मेलों-ठेलों में सामान बेचते मिल जाते हैं। इस तरह ये 'उठउवा' व्यापारी होते हैं जो अपने सामान को दर-दर जाकर बेचते हैं।

मीरजापुर में कोटा-बीना के पास एक ज्वालामुखी पहाड़ है। वहाँ कुछ पहाड़ियाँ हैं जिनके पत्थर में लोहे का अंश मिला हुआ है। वे उसमें से लोहा तथा जमीन के अन्दर से कोयला निकालते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व भी, जब किसी को ज्ञात नहीं था

कि यहाँ कोयला का भारी भण्डार है, ये कोयला निकालकर बैलगाड़ी या घोड़ों, बैलों पर लादकर मिरजापुर-बनारस की बाजारों में बेचते थे। अंग्रेज प्रायः इसी कोयले का इस्तेमाल करते थे। गाँव के लोग इसे 'पत्थर कोइला' कहकर छोड़ देते थे।

उद्योग और व्यवसाय में लगे होने के कारण ये सीमित साधनों में संतुष्ट और सुखी हैं। स्वतंत्रता के बाद इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। पहले ये किसानों या महाजनों से देढ़ा-बाढ़ी पर अनाज या पैसा कर्ज लिया करते थे जिसका उन्हें चक्रवृद्धि ब्याज चुकाना पड़ता था और वे प्रायः तबाह रहते थे। अब वे स्थानीय उद्योग-धन्धों में काम करके पाँच से पन्द्रह रुपये रोज तक कमा लेते हैं। बीस सूत्री कार्यक्रमों के अन्तर्गत उन्हें पुराने ऋण के भुगतान से भी मुक्ति मिल गयी। शिक्षा की ओर अब उनका ध्यान आकृष्ट हुआ है। इनके बच्चों को अब स्कूल में पढ़ते देखा जाता है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इनमें प्रगति की भावना का विकास हुआ है। जहाँ ये रूढ़िवादिता और अंध-विश्वासों में जकड़े होने के कारण हीन भावना के शिकार थे और विकास की योजनाओं से दूर भागते थे, वहीं अब उन्हीं उद्योगों में रात-दिन लगे हुए हैं। विकास योजनाओं में अपनी साझेदारी समझकर श्रमिक संगठनों के माध्यम से अपने हक के लिए आवाज उठाते हैं जिसे हम एक महत्वपूर्ण उपलब्धि की संज्ञा दे सकते हैं।

एक आँकड़े के अनुसार मीरजापुर में आदिवासियों की कुल संख्या 1,74,652 है जिनमें अगरिया जनजाति की संख्या 6,432 है।

सांस्कृतिक परिवेश

अगरिया अब खेती-बारी करने लगे हैं। पशु-पालन, गोचारण और हलवाही करके जीविका चलाते हैं। इनका रूप-रंग साँवला या काला होता है। कद सामान्यतः 5 फुट होता है किन्तु ये स्वस्थ और पुष्ट शरीर वाले होते हैं। ये हल्का मोटा वस्त्र पहनते हैं। स्त्रियाँ सूती साड़ी, आभूषणों में हैकल, हुमेल, घुमची की गुरिया, गिलट का कड़ा, छड़ा, चूड़ी, हंसुली पहनती हैं। मलिकाना प्रायः स्त्रियों के हाथ में ही होता है। ये फूस या खपरैल के मकान में रहते हैं। मिट्टी और अलमुनियम अथवा लकड़ी, लोहा और पत्थर के बर्तन ही अधिक प्रयोग में लाते हैं। मदिरा-पान करते हैं। स्त्रियाँ गोदना गुदातीं हैं। भूत-प्रेत के प्रति विश्वास इनमें भी है, किन्तु अब ये धीरे-धीरे अंध-विश्वास से दूर होते जा रहे हैं। ये हिन्दुओं के देवी देवताओं, ब्रतों, उत्सवों, समारोहों समारंभों को मनाते हैं और वनदेवी, बघउत बाबा की भी पूजा करते हैं। ये ज्वाला-मुखी देवी की पूजा का एक उत्सव मनाते हैं जिसमें वे समूह में पदयात्रा करके देवी-धाम में आकर मुर्गे, बकरे या सूअर के बच्चे की बलि देते हैं। उस दिन ये सिर पर या हाथ में जलती अंगीठी लेकर नाचते-गाते हैं। उनके गीतों में जहाँ एक ओर उनके जीवन की झांकी मिलती है, वहीं दूसरी ओर उस क्षेत्र की सांस्कृतिक परंपरायें भी

अभिव्यक्त होती हैं। उनके एक गीत की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं जिनमें जीवन और संसार के प्रति उदासीनता का परिचय मिलता है—

"अइसन काया काहे क बनायगो।
केतिक राती जनम लिहिन,
केतिक राती बढ़िनगो।
केतिक रातिन परान निकसिगो॥
सही साँझे जनम लिहिन,
आधी राती बढ़िनगो,
होत बहानि परान निकसिगो।"

इनमें लोककथाएं, गाथाएं तथा नाट्य भी प्रचलित हैं। इनकी भाषा अवधी, भोजपुरी और छत्तीसगढ़ी की मेलजोल खिचड़ी है।

ये जन्म, अन्नप्राशन, जनेऊ, विवाह, गवन, मृत्यु आदि संस्कारों की लोक-परंपराओं को मानते हैं। मुर्दों को जलाते, गाड़ते अथवा पानी में प्रवाहित कर देते हैं। शकुन-अपशकुन का विचार करते हैं। विवाह आदि के अवसर पर भित्तिचित्र—हाथी, घोड़े आदि के बनाते हैं। दीपावली के अवसर पर पशु-पूजा, नवरात्रि के अवसर पर नीम, सेमल आदि वृक्षों की पूजा करते हैं। ये टोना-टोटका में विश्वास करते हैं। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि अगरिया जनजाति के लोगों का जीवन विषम है। वे शताब्दियों से सामन्ती व्यवस्था के शिकार रहे हैं। अब उन्हें खुला आकाश और उन्मुक्त वातावरण मिला है जिसमें वे अंगड़ाई लेकर खड़ा होने का साहस बटोर रहे हैं। उनके उत्थान के लिए सरकार निम्नलिखित कारगर कदम उठा सकती है—

(1) उनके परंपरागत लघु लौह-उद्योग को कर्ज या अनुदान देकर विकसित कर सकती है।

(2) उनके बच्चों को तदनुकूल उद्योग-धन्धों के लिए प्रशिक्षित कर सकती है।

(3) उनके द्वारा निर्मित माल के बिक्री की व्यवस्था कर सकती है।

(4) आदिवासी बहुल क्षेत्रों से शराब की भट्टियाँ तुड़वाकर शराब का ठेका समाप्त कर सकती है।

•

धरकार

अनपरा में ईसरलाल धरकार से अनायास भेंट हो गयी। सत्तर वर्ष की अवस्था आराम करने की है, न कि जंगल-जंगल घूमकर लकड़ी-काठी काटकर उसे बाजार में लाकर दर-दर ठोकर खाने की। लेकिन नहीं, साठा पर पाठा वाली कहावत उन पर

पूरी तरह चरितार्थ होती है। उनका कहना है कि जब तक सांसा है, तब तक आशा रहेगी। वे क्यों बेटी-पतोहू का निहोरा लें? वे दूसरे की कमाई खाना पाप समझते हैं। वे तो वे, नब्बे वर्ष के दसई धरकार डफला बजाकर भीख मांग रहे थे। जब उनसे पूछा गया कि वे कितते साल के हुए तो हंसकर बोले—"यही चालीस-साठ वर्ष के होंगे बाबू, अब चालीसा लगल हौ। काहे से कि तनी-मनी धूधुर देखाला।" यानी इस अवस्था में भी उनकी आँख ठीक है।

धरकार आरंभ से ही शक्तिशाली जाति रही है। ये कभी जमींदार थे और मध्य प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में इन्हीं की तूती बोलती थी। ये पहले राजाओं के यहाँ कारिन्दा या कर वसूलने वाले सिपाही का काम करते थे, क्योंकि ये अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक विश्वासपात्र थे। बीच में सामन्ती व्यवस्था के कारण इनकी हालत बिगड़ गई थी, किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्थिति में सुधार होने लगा। दुद्धी के शिवबरन ने बताया—"हमें बसने के लिए जमीन दी गयी। तकावी बांटी गयी। उस वर्ष के अकाल में अनाज और कपड़ा बांटकर हमारी जान बचा ली गयी। इस वर्ष ही 'करो खाओ' योजना (राहत कार्य) न चलायी गयी होती तो हम लोग मर गये होते।"

धरकार जाति का पैतृक कार्य है—बांस का सूप, बेना, डलिया, दौरा, चटाई, दोना-पत्तल आदि बनाना, खेती-बाड़ी करना, मिट्टी खोदना, गिट्टी तोड़ना आदि।

मिर्जापुर में इस जाति के लोग दुद्धी तहसील के डिबुल गंज, परसवार, धौरहवा, जरहा, कुसुम्हां, बूड़ा; राबर्ट्स गंज तहसील में सलखन के आस पास अधिक संख्या में निवास करते हैं। इनकी भी कुल 7 कूरियां (उपजातियां) बतायी जाती हैं। इनकी एक कूरी सोरिहा है जो सूअर चराने तथा उनके बच्चों को बेचकर व्यापार करने का काम करती है। बेलवंशी (शायद वेणुवंशी) खेती-बाड़ी तथा गोचारण का काम करते हैं। देवरिया या देवरिहा दउरी (डलिया) आदि बनाने का काम करते हैं। इसी प्रकार नगरहार बांस-काठ का तथा अन्य जातियां वन पर आधारित उद्योग-धन्धे करती हैं।

यह जाति ईमानदार बहुत होती है। ईसरलाल ने बताया कि उनका घर भी उजाड़ में था; किन्तु उसका 3000 रु० मुआवजा मिला। जमीन बसने के लिए अलग मिली। यह पूछने पर कि पैसे का क्या किया, उन्होंने बताया—'भुखमरी में महाजन का कर्ज खाया था, सो दे दिया। 700 रु० कर्ज लिया था, जिसका 7000 दिया, 1000 देना है।' यह पूछने पर कि कर्ज तो सरकार ने माफ़ कर दिया है, क्यों दिया? उन्होंने कहा: 'सरकार ने माफ किया तो क्या हुआ। खाया है, तो दूंगा। मैं दूं, चाहे मेरा बेटा दे।' उन्होंने इसी प्रसंग में एक गीत भी गाकर सुनाया था जिसका सारांश यह था सबको सब कुछ मिलता है, राज-पाट भी मिलता है, किन्तु कुछ भी स्थायी रहने नहीं पाता। भाग्य के अनुसार वहीं वनवास भी लिख जाता है। इसलिए मनुष्य को अपने कर्म, परिश्रम और ईमानदारी पर विश्वास करना चाहिए।

धरकार अब एक घुमन्तू जाति हो गयी है। ये स्थान बदलते रहते हैं। इसका पहला कारण रोटी-रोजी की तलाश है। दोनों फसलों पर ये गांव-गांव डेरा डालकर, डफला बजाकर सपरिवार नाचते-गाते तथा भिक्षाटन करते हैं। किसी स्थान पर निश्चित रूप से नहीं रहते तथा गरीबी के कारण ये चोरियां भी कर लेते हैं। कुछ लोगों की राय में यह जरायम पेशा जाति है। किन्तु अब काफी बदलाव आया है।

'मिरजापुर गजेटियर' के अनुसार धरकार मूल रूप से आदिवासी हैं, किन्तु डलिया आदि बनाने के कारण हिन्दू डोम के निकटवर्ती माने जाते हैं। ये 'पहाड़ पंडों' की पूजा वन या पहाड़ देवता के रूप में करते हैं। इसके अतिरिक्त दुरासिन, बन्हिया-वीर, देवनाथ, अगरमती भवानी, विरतिया और दुल्हादेव की पूजा भी करते हैं। पंचमवीर भी इनके एक अन्य देवता हैं।

अधिकतर धरकार अशिक्षित हैं। ये भीड़ से डरते तथा कोर्ट-कचहरी जाना पसन्द नहीं करते। रगड़ों-झगड़ों का निपटारा पंचायत प्रथा से दूर कर लेते हैं।

इनके गीत बड़े ललित तथा ओजगुण प्रधान हैं, जिन्हें गाते समय ये नृत्य भी करते हैं। डफला इनका मुख्य वाद्य है, जिसे बजाने का तौर-तरीका ये बचपन में ही सीख लेते हैं। पांवों में घुंघुरू पहनते हैं। अब ये अन्धविश्वास से ऊपर उठने का प्रयत्न कर रहे हैं। शिक्षा के प्रति इनका रुझान बढ़ा है। जहां ये भीख मांग कर पेट पालते थे, अब वहीं ये व्यवसाय और खेती भी करने लगे हैं।

धांगर

आदिवासियों में धांगर एक विशिष्ट और पुरानी जन जाति है। यह जाति मुख्य रूप से कैमूर-पर्वत-श्रेणियों के दक्षिणी-पूर्वी भाग तथा शोप के आसपास, दुद्धी और बिहार के सीमावर्ती क्षेत्रों में बसी हुई है। बिहार के दक्षिणी-पश्चिमी भू-भाग तथा दुद्धी के पूर्वी-उत्तरी भागों में धांगरों की संख्या खूब मिलती है। कुछ धांगर मीरजापुर के विजयगढ़ परगना के मैदानी भागों में बसे हुए हैं।

भुइयां और कोलों की तरह धांगर भी अपने को 'मिट्टी के शैतान और मिट्टी के राजा' कहते हैं। तात्पर्य यह कि इस जाति का मुख्य पेशा मिट्टी खोदना-ढोना है। मैदानी भाग के धांगर किसानी करते हैं। आजादी के पूर्व जब इनके पास खेत नहीं था तो ये घूम-फिर कर अपनी आजीविका चलाते थे और जहाँ कहीं काम मिलता, वहीं झुग्गी या छावनी लगा लेते थे। काम समाप्त होने पर फिर अन्यत्र चले जाते थे। ये प्रायः जंगल के पास बसते तथा तीर-कमान से जंगली जानवरों और

चिड़ियों का शिकार करते थे। गरीबी और भुखमरी की स्थिति में कभी-कभी ये जरायम पेशा भी अख्तियार कर लेते थे। आजादी के बाद पं० जवाहर लाल नेहरू का पंचशील कार्यक्रम लागू होने के साथ धीरे-धीरे इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगा। इन्हें बसने के लिए जमीनें दी गयीं जिसके कारण इन्होंने मकान बनाकर स्थायी रूप से रहना आरम्भ कर दिया। इससे दो फायदे हुए। पहला यह कि पूरी गृहस्थी सिर पर लाद कर इनका घूमना बन्द हो गया। दूसरा यह कि जरायम पेशा छोड़ कर इन्होंने अपनी गृहस्थी बसानी आरंभ कर दी। जंगल के आसपास की जायज-नाजायज जमीन पर खेती-बारी करना आरम्भ कर दिया। पशु पालने लगे। खाली समय में मिट्टी-गिट्टी का काम करने के लिए अब ये औद्योगिक स्थानों पर चले जाते हैं, जहाँ 10 रुपये रोज तक कमा लेते हैं। वातावरण में परिवर्तन तथा आर्थिक स्थिति ठीक होने के कारण अब ये धीरे-धीरे सभ्य होते जा रहे हैं। अच्छे कपड़े पहनते हैं। साफ-सुथरे मकान में रहते हैं। शिक्षा में रुचि लेते हैं। अंध-विश्वासों से पृथक होते जा रहे हैं। मदिरा-पान जैसी भयंकर बुरी आदतों से मुक्त होते जा रहे हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि इनके अंदर की हीन भावना समाप्त होती जा रही है।

अन्य परम्पराएं तथा रीतियां :

अन्य जनजातियों की तरह धांगरों में भी कुल सात कूरियां (उपजातियाँ) हैं, जिनके नाम हैं—माझी, खरवार, चेरो, धांगर आदि। विवाह-सम्बन्ध ये अपनी-अपनी कूरी में ही करते हैं। इनके यहां 'डोला' शादी होती है। यानी वर अपनी पत्नी को लाने के लिए पैदल ही जाता और दुल्हन को भी अपने तथा बारातियों के साथ पैदल ही लाता है। व्याह के अवसर पर वर-वधू दोनों प्रायः पीले या लाल रंग के कपड़े पहनते हैं। कन्धे पर कुल्हाड़ी लिये गांठ जोड़े गांव के देवी-देवताओं की पूजा करके ही गृह-प्रवेश करते हैं। इस अवसर पर नाच-गाने आयोजित किये जाते हैं। भोज-भात दिया जाता है। पुत्र-जन्म, नाल-छेदन, अन्नप्राशन, छठी-बरही, गवन आदि की प्रथाएं भी इनमें प्रचलित हैं।

सांस्कृतिक परिवेश

धांगर करम देवता, गंवहेर, वनसत्ती, इन्द्रासनी आदि की पूजा में विश्वास करते हैं। पशुओं में बाघ की पूजा बघउत के रूप में तथा बृक्षों में नीम, पीपल, सेमल आदि की पूजा 'निबिया भवानी' 'पिपरहवा बाबा' और 'सेमरहवा देव' के रूप में करते हैं। मवेशियों के अड़ाने से दूध दुहाकर लाते समय दो-चार बूंद वनसत्ती को चढ़ाते हैं। बघउत की पूजा, मनौती पूरी होने पर घोड़ा और कलश (मिट्टी का बना) चढ़ा कर करते हैं। कभी-कभी मुर्गा की बलि चढ़ाते हैं। सावन के महीने में नीम के पेड़ में देवी के लिए झूला डाला जाता है और स्त्रियां देवी-गीत गाती हैं। ओझाई-देवाई की जाती है।

स्त्रियां प्रायः सभी प्रकार के गहने-हैकल, हुमेल, हँसुली, बाजूबंद, कड़ा-छड़ा, ऐरन, नथिया आदि पहनती हैं तथा गुदना भी गुदाती हैं। पुरुष माथे पर या हाथ में गुदना गुदाते तथा कान में लुरकी, गले में जंतर और घुमची की माला पहनते हैं।

भाषा और साहित्य

धांगरी बोली में संस्कृत-शब्दों, शब्दावलियों, क्रिया-पदों की प्रधानता देखी जाती है। जैसे, अम्बु–पानी, कच–बाल, चछु (चक्षु) आँख, श्रवण कान, ओष्ठ–ओठ-होष्ठ आदि। कुछ शब्दों का प्रयोग बिलकुल भिन्न है, यथा–खद्दर–बालक, मुक्कर-स्त्री कवड़े–कपार–सिर, लिलार–माथा, भाग्य आदि। इसी प्रकार ठोली–ठुड्डी, खेंसरे–गरदन, धुकधुकी–छाती, कुली–पेट, कीड़ा–भूख, खदराहन–नींद, तीखिर—चावल, अड्डो-बैल, असवा–रोटी, लेटे–भात, अमरवी–दाल, किल–तरकारी, दुग्धई–दूध, अइयो–माता, आलर–आदमी, जोखस–जवान, हेस्ता–हाथ आदि शब्द भी इनकी भाषा के समृद्ध होने के प्रभूत प्रमाण हैं।

वाक्य-संरचना की दृष्टि से भी इनकी भाषा महत्वपूर्ण है। यथा, खद्दे चीरवाल लागे (बालक रोता है), मुक्का-मुण्डी ओना लागी (स्त्री भात खाती है), गरीबान वेसी खाकरा चाही (गरीबों को अधिक मजदूरी देनी चाहिए) आदि।

धाँगरों का साहित्य धनी है। ये प्रायः करमा नाचते तथा गाते हैं जिसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

"कूजा गढ़े राजा राउर सार दरिया
जब लेइ लेबे राजा लोहा खरिया
बेड़ाले राजा गाय-भइंसिया
जब कहींन लगी राजा गाय-भइंसिया
काहे खातिर राजा हाँसा राज छोड़वा
दूध खातिर बेड़ा गाय भइंसिया
चढ़े खातिर राजा हाँसा राज छोड़बा।"

इस गीत में राजा-प्रजा के बीच के सम्बन्धों को बताया गया है। राजा-प्रजा वर्ग को मवेशियों को अपने अधिकार में कर लेता है जिससे प्रजा वर्ग दुखी है। दुखी क्यों न हो, आखिर उनके पास मवेशियों के अतिरिक्त और धन ही क्या है?

बाँदी

सिंगरौली - सीमा पर बसी मिर्जापुर की दुद्धी तहसील आदिवासियों का गढ़ है। यहां अनेक जन जातियां निवास करती हैं, जिनमें एक जाति है बाँदी। इस जाति

के लोग मध्य प्रदेश के पलामू तथा सर गुजा के सीमावर्ती क्षेत्रों में, बिहार की सीमा में तथा कुछ उड़ींसा में भी फैले हुए हैं।

बाँदियों का जातीय पेशा है, गोदना गोदना। ये खानाबदोश हैं तथा इन पर 'जहां चारा वहीं मारा' की कहावत चरितार्थ होती है। यह शिल्पी वर्ग की जाति है तथा घूम-फिर कर गाँवों-नगरों में गोदना गोदकर जीविका चलाती है। शादी-व्याह के समय इस जाति की स्त्रियां दौरी-भौकी में गृहस्थी और गोदने के सामान लेकर लम्बी यात्रा करके अवकाश के समय के लिय पैसे कमा लेती हैं। कभी-कभी पुरुष भी गोदना गोदतें हैं किन्तु वे अधिकतर खेती-बाड़ी, सूप-बेनी का काम करते हैं। ये आदिवासियों का वाद्य 'मादल' बजाने में भी दक्ष होते हैं। अब इनका शिक्षा की ओर झुकाव हुआ है। बच्चे स्कूलों में जाने लगे हैं। स्त्री-पुरुष प्रौढ़ शिक्षा में रुचि दिखाने लगे हैं। ये अब सामन्ती व्यवस्था से उबरकर उद्योग-धंधों में कार्य करने लगे हैं। विस्थापितों को जमीनें दी गयी हैं अतः वे मकान बनाकर रहने लगे हैं। जहां ये साग-पात, कन्द-मूल पर निर्भर थे, वहां काम करके दस-बारह रुपये रोज कमा ले रहे हैं। अंधविश्वासों, दकियानूसी विचारों से भी क्रमशः ये मुक्त हो रहे हैं। दुद्धी के पचास वर्षीय बिपतू सचमुच विपत्ति के मारे हैं। उन्होंने बातचीत के दौरान अपनी बोली में बताया कि "बिपतू अब बिपतू नहीं रहे। तीन बेटे अनपरा में काम करके पचीस-तीस रुपये रोज कमा रहे हैं। नाती-नतिनी स्कूल पकड़ लिये हैं। पतोहू गांव-घर का काम करती है। अब तो हम चार पैसे देने लायक हो गये हैं। बुढ़ौती आराम से कट जायगी तो बस और क्या चाहिए।"

बाँदी गोदना गोदने के काम को बहुत पवित्र मानते हैं। मुझे याद है, एक बुढ़िया ने एक बार कहा था—"हमनी क गोदना सरग तक साथ जाला। कोई रुपिया देला, कोई गहना देला, अन-धन-सोना देला, बाकी कुछु केहू के साथे जाला? सब एहिजे रहि जाला, बाकी ई गोदना संघे जाला।"

बाँदी मिर्जापुर जिले के दुद्धी और राबट्सगंज तहसील में जिन स्थानों पर रहते हैं वे प्रायः पहाड़ी हैं। हरदी, कोटा, मेड़रदह, खजुरा, परसोई गांव के निवासियों से बात-चीत हुई तो ज्ञात हुआ कि वे अब भूत-प्रेत, ओझाई देवाई, टोना-टोटका में विश्वास कम करने लगे हैं। सभी देवताओं को मानते हैं। अपनी जाति-बिरादरी में विवाह करते तथा दहेज के विरोधी हैं। उनका जीवन आनन्द और मौज-मस्ती का जीवन है। करमा, सोहा और सैला नृत्य डफला और मादल बजाकर करते हैं। पूजा-पाठ, तीर्थाटन, अतिथि-सत्कार, ब्रत, उपवास में विश्वास करते हैं। मिट्टी के बने मकान में रहते तथा आपसी झगड़ों का निपटारा पंचायत प्रथा से कर लेते हैं। इनके यहां बड़े-बूढ़ों तथा स्त्रियों का बड़ा सम्मान है। ये शिकारी तथा मांसाहारी भी होते हैं। बात के धनी तथा धुन के पक्के होते हैं। हिन्दुओं के सभी त्यौहारों को मानते पर होली और शिवरात्रि तथा नवरात्रि में नृत्य आदि का आयोजन भी करते हैं।

इन पंक्तियों के लेखक को बाँदियों की बस्ती में एक रात गुजारने का भी सुयोग प्राप्त हो चुका है। अल्युमिनियम के पात्र में परोसा इनका सादा भोजन सचमुच बड़ा प्रिय लगा था। सब्जी तो पहचानी ही न जा सकी कि किस चीज की थी। महुआ के रस में बनी लपसी (हलबा) मोहन भोग से कम न थी। बेर्रा (जौ-चना) की रोटी बड़ी प्रिय लगी थी। भोजन के संग-संग इनकी वाणी भी बड़ी मीठी लगी थी जिस पर बिहारी का प्रभाव था। हमने उनसे जब कोई गीत सुनाने का आग्रह किया था तो उन्होंने हंसते हुए कुछ पंक्तियां इस प्रकार गुनगुनायीं थीं—

"बरवा के पकते
पिपर पाक गइले हो ऽऽऽ।"

× × ×

सींक खोंटइ गइलीं
ओही सींक बनवां में।
तथा
नदिया के तीरे कवन गोरी आवे अस धीरे,
तीरे सांवर धनी आवे अस धीरे।
पनियां त भरे सांवर बइले कसेरा,
सिर पर उठि नहिं जाय।"

इनकी भाषा में बड़ी मिठास है। उसमें भोजपुरी मिश्रित बिहारी का माधुर्य है। सुन्नर (सुन्दर), समइया (समय), लोर (आंसू), चाउर (चावल), गउवां (गांव), नइहरवा (नैहर), पनियां (पानी) आदि संज्ञा तथा 'पइबू', 'खइबू', 'जइबू', जाइब, खाइब, सुतली, खइली आदि क्रिया-पदों का प्रयोग हुआ है। इस बोली पर कुछ प्रभाव रीवां का भी पड़ा है। इनकी बोली में तनाव अधिक है। किसी कविता की पंक्ति का अंतिम शब्द तीन-चार गुरु मात्राओं के साथ समाप्त होता है। चूँकि स्त्रियां गोदना गोदते समय गीत भी गाती हैं, इसलिए हर स्त्री गायिका होती है। ये स्त्रियां नाट्य-कला में निपुण होती हैं। आवश्यकतानुसार अभिनय भी कर लेती हैं। इनके साहित्य का संकलन एक उपयोगी कार्य हो सकता है।

बैसवार

दुद्धी तहसील का एक गांव है- परासी। उसमें प्रवेश करते हमें लगा कि 'वह आदिवासियों का नहीं, पुराने रईसों का गाँव है। क्योंकि मकानों की बनावट बड़ी अच्छी पुराने सामन्तों जैसी है। प्रायः बीच में एक बड़ा आँगन था। आँगन में कुआँ।

कुएं पर पानी खींचने के लिए ढेकुल या मोठ गड़ी था। मकान के चारों ओर चहारदीवारी। दो या तीन तरफ दो मंजिले कच्चे मकान। मकानों से लगे बरामदे। मजबूत और सुन्दर खपरैल का छाजन। कामदार लड़की की खम्हियाँ और नक्काशी दार सुगियां लगीं थीं। दरवाजों के चौखट और किवाड़ भी देखने लायक थे। उस गाँव में छप्पर का मकान दिखलायी नहीं पड़ा। इन सबसे लगा कि सभी खाते-कमाते हैं।

बैसवार वैसे भी आरंभ ही से सम्पन्न जाति रही है। रामसुमेर ने बताया कि उनके पास जमीन पर्याप्त थी, मवेशी थे। खेती होती थी, खूब पैदा होता था। अब जमीन कुछ बूड़ में और कुछ अनपरा फैक्ट्री में चली गयी, तब भी जो बची है, पर्याप्त है। इस समय यहां डेढ़-दो सौ रुपये इंच जमीन बिक रही है। कुछ लोग जमीन बेचकर या जमीन का मुआवजा पाकर राजा हो गये।

सचमुच देखने में भी ऐसा ही लगा। कुछ लोगों के लिए अनपरा तापीय विद्युत गृह का निर्माण वरदान हो गया। जमीन से पैसे मिले, बाल-बच्चे नौकरी करके दस-पांच रुपये रोज पैदा करने लगे। ठीकेदारी या दुकान करने लगे। पढ़ने-लिखने में मन लगाने लगे। उनके रहन-सहन का स्तर ऊंचा होने लगा।

बैसवार पहले खेती-बाड़ी के अलावा मुख्य रूप से सूत कातने का धन्धा करते थे। वे कपास की खेतो करते थे, उससे पूनी तैयार करके हाथ के बने चरखे पर कातकर सूत तैयार करते और उससे कपड़े बनाते थे। कुछ लोग खाली समय में आज भी इस काम को करते हैं। स्त्रियां इस काम को बड़े चाव से करतो हैं।

बैसवारों में स्त्रियों का बड़ा सम्मान है। वे ही घर की मालकिन होती हैं। पति के हर काम में हाथ बंटाती हैं।। गांव के सभापति की पतोहू ने बताया कि बैसवारों में कुल सात उपजातियां होती हैं—सोहाग-पुरिया, मौझरी, बंसइत, खड़यित, मोटरिहा आदि। ये सब अलग-अलग काम भी करते थे, जैसे बंसइत बाँस से डलिया आदि बनाने का काम करते थे तो खड़यित छाने-छोपने का। इसी प्रकार मोटरिहा बोझ ढोने का काम करते थे।

रीति-रिवाज

बैसबारों की कुछ कुल-रीतियां बड़ी विचित्र हैं, जैसे विवाहोपरान्त जब बधू का गृहीप्रवेश होता है तो बकरे की बलि चढ़ायी जाती है। वधू बलि के रक्त का पांव से कचरती हुई घर में प्रवेश करती और फिर बकरे के मांस का प्रसाद ग्रहण करती है।

प्रथम पुत्र की पैदाइश पर भी पूजा होती है, यानी बलि चढ़ाई जाती है। उस लड़के के ब्याह के समय बलि देने की प्रथा है। इस अवसर पर लोग टुटेरी गीत और उत्सव मनाते हैं। भैंस, गाय चराकर, जंगल से पहली बार लौटने पर भी बकरे की बलि दी जाती है और उसका प्रसाद विशेष रूप से चराकर लौटने वाले को

खिलाया जाता है। इस प्रकार जन्म, विवाह, गवन, अन्नप्रासन, गोचारण आदि संस्कारों का बलि चढ़ाकर मनाने की परंपरा इनके यहाँ प्रचलित है। वे मुर्दों को सामान्यतया हिन्दुओं की तरह ही जलाते हैं। शीतला से मृत्यु होने पर लड़के को दस दिन तक जमीन के अन्दर गाड़ रखते हैं, फिर निकालकर जल में प्रवाहित कर देते हैं या जलाते हैं। क्रिया-कर्म सभी करते हैं। पितरों को गया पहुँचाते हैं। बाजा बजाकर गांव निकाली करते हैं।

ये प्रायः सभी देवताओं की पूजा करते हैं। उन्हें बलि चढ़ाते अथवा रोट या मिठाई चढ़ाते हैं। नाग-पंचमी, अष्टमी, तीज, विजय दशमी, दीवाली, होली, एकादशी जिउतिया, ललही छठ आदि पर्व उत्साह से मनाते तथा गोरइया देव की पूजा गोरक्षा के लिए सरिया में, दुलहादेव की पूजा नवदम्पत्ति की रक्षा के लिए घर में तथा दुर्गा की पूजा देवी-धाम में करते हैं। इसी प्रकार गंवहरे की पूजा गांव में गांव के मंगल के लिए, वनसत्ती और बघउत की पूजा वन में अन्य-जन्तुओं से सुरक्षा के लिए वंश परंपरा से करते आ रहे हैं। शिव की पूजा विश्व तथा समाज-कल्याण के लिए करने की प्रथा भी प्रचलित है।

बैसवार अपने को सभियवंशी कहते और अन्य जातियों का छुआ-पकाया प्रायः नहीं खाते हैं। दूसरी जाति को गगरी (मिट्टी का घड़ा) भी नहीं छूने देते हैं। मंत्र-तंत्र ओझाई में विश्वास करते हैं, किन्तु अब उससे मुक्त भी हो रहे हैं। युवा-पीढ़ी में अन्ध-विश्वास, अन्धभक्ति, दकियानूसी विचार प्रायः कम होते जा रहे हैं। अब ये मदिरा-पान की हानियों को समझने लगे हैं। गांवों में इस जाति के कुछ पढ़े-लिखे, पैन्ट-शर्ट, घड़ी, चश्माधारी नव-युवक भी मिले जिनसे बातचीत से ज्ञात हुआ कि अब वे प्रगतिशील समाज के साथ पांवों में पांव मिलाकर चलना पसन्द करते हैं। यहाँ के एम० एल० ए० श्री ईश्वर प्रसाद भी बैसवार जाति के थे। उन्होंने एक भेंट में बताया कि प्रगति की कामना सब में है। बूढ़ा पिता भी कब चाहेगा कि उसका बेटा अंधविश्वासों में जकड़ा रहे, वह ऊँची शिक्षा प्राप्त न करे। किन्तु परिस्थितियां अनुकूल नहीं हैं। जैसे-जैसे परिस्थितियां अनुकूल होती जा रही हैं, वैसे-वैसे उनसे गंवारूपन, पिछड़ापन दूर होता जा रहा है। सरकार भी इसके लिए कम सचेष्ट नहीं है।

बैसवारों का साहित्य बिखरा पड़ा है। लोरिकी, बिरहा के अतिरिक्त ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, जन-जीवन तथा संस्कार-सम्बन्धी गीत भी गाये जाते हैं जिनमें कल्पना की ऊंची उड़ानों, संघर्षमय जीवन की गहरी अनुभूतियों तथा कलियुगी विडंबनाओं के सजीव चित्र अंकित हैं।

यथा—— "खाटी परी सोवलिस मेहरिया, भूमा सोवले भतार।
ससुर-भसुर नहीं माने, तिरिया गदहा समान।
कलऊ के बात कहे, के रे भगवान।।"

तथा—— "कानी अंगुरी से कलमे बनइस रे, अंचरा से कगरे बनायो रे।
लिखे लगो बरहो बिरोगे।"

इनकी भाषा पर स्थानीयता का प्रचुर पुट है। बभनडीहा, बभनगांवा, सउपहारी (शिवपहाड़ी), सोनबरसा (स्वर्णवर्षा) आदि शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश के निकट है तो बुढ़िया-बुढ़वा, नाती-पोता, लइकी-लइका, खण्डा-टुक्का आदि सार्थक-निरर्थक सामासिक-पदों का प्रयोग भी मिलता है। क्रिया पदों में नहीं है के लिए 'नइखें', है के लिए 'हवे' या 'बाटे', गया था के लिए 'गयल रहे', पढ़ता है के लिए 'पढ़उथै' या 'पढ़ी थे' का प्रयोग किया जाता है। गीतों में हर पंक्ति के अंत में तनाव देखा जाता है। जैसे—

"अर राजा ईहां एक लल्लू रे जनमल करउ न सोना के दान हो माऽऽऽय।
घुमत-फिरत एक बाभन अइलन ले लेहने कपिला क दान दो माऽऽऽय।"

भुरतिया

आदिवासियों में भुरतिया वह जाति है जो पुराने आभीरों की श्रेणी में आती तथा वर्तमान अहीर जाति के आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन तथा कार्य-व्यापार और व्यवहार में अधिक निकट तथा मेल में है। ये उत्तर प्रदेश के कई भागों तथा जनपदों में बसे हुए हैं। मिर्जापुर जिले के माची, खोढ़इला, बड़इला, घोरावल के पास तेनहार और लाली-कन्हारी में ये बसे हुए हैं। लाली-कन्हारी तो भुरतियों का ही गांव है। उत्तर प्रदेश के अलावा मध्य प्रदेश, बिहार आदि में भी इनकी छिटपुट बस्ती देखी जाती है।

कार्य-व्यापार

भुरतिया खेती-बाड़ी पशु-चारण अधिक करते हैं। इस कार्य को ये पहले भी करते थे। गाय-भैंस चराना इनका पुश्तैनी पेशा है। ये जंगल या पहाड़ के पास किसी ऊंची जगह पर छावनी बनाकर रहते, गाय-भैंस चराते, उनका छक कर दूध पीते तथा पहलवानी भी करते हैं। यह आरंभ से ही जुझारू जाति रही है। इनके बारे में आज भी 'मनइ मन के बनइ बन' कहावत प्रसिद्ध है। यानी ये सूरी, हठी, दुराग्रही तथा दृढ़-प्रतिज्ञ होते हैं। इनके बारे में कहा जाता है कि ये अपने दुश्मन से वन में बदला लेते हैं।

भुरतिया जाति की स्त्रियां अधिक कार्य-कुशल तथा बुद्धिमती मानी जाती हैं। वे अड़ान पर जाकर दूध दुहा आती हैं। उसे आग पर बैठाती, दही जमाती, फिर मथकर घी निकालती हैं। इसके अतिरिक्त खेती-गृहस्थी का कार्य भी करती हैं। बच्चे आरंभ से ही गोचारण में दक्ष होते हैं। पहले इनमें शिक्षा का प्रचार कम था, पर अब पढ़ने-लिखने लगे हैं।

मीरजापुर जिले के भुरतिया बड़े सम्पन्न हैं। इनके पास काफी संख्या में मवेशी हैं तथा ये अब खेती-बाड़ी भी करते हैं। दूध-घी तथा पशुओं के व्यापार से भी इनको तरक्क आय हो जाती है। शिक्षा के प्रति इनकी रुझान कम रही है, किन्तु जबसे

देश स्वतंत्र हुआ है, ये शिक्षा की ओर भी ध्यान देने लगे हैं। डाक्टर, वकील, अध्यापक अफसर बनने की ललक इनमें भी आयी है और इसी कारण कुछ अच्छे पदों पर भी कार्य करने लगे हैं।

ये सात्विक और धार्मिक विचार के हैं। मांस-मछली नहीं खाते, अपितु घी-दूध पर अधिक जोर देते हैं। ये दूध से खीर और माठा से 'महेर' बनाकर खाते हैं। 'टिलटिलई' इनका एक विशेष भोजन है जिसे ये प्रायः जंगल में गाय-भैंस चराते समय बनाते और प्रेम से खाते हैं। दूध से तरह तरह की मिठाइयां बनाने की कला भी ये जानते हैं :

देवी-देवता

भुरतिया हिन्दुओं के प्रायः सभी देवी-देवताओं में विश्वास करते हैं। ये 'कराह-बाबा' की पूजा बड़े विधि-विधान से करते हैं। वर्ष में एक बार प्रायः दीपावली के आसपास, ये किसी एकान्त स्थान में एकत्र होते और बड़ी कड़ाही में दूध खौलाकर, उससे खीर पकाकर खाते और प्रसाद बांटते हैं। इनके पुजारी उस खौलते हुए दूध से स्नान करते और अकाल-दुकाल के बारें में भविष्यवाणियां करते हैं। वहां आम आदमी एकत्र होते हैं तथा सबकी मनोकामनाएं पूरी होने के आशीर्वाद देते हैं।

इनके एक अन्य देवता का नाम 'बिरतिया' है, जिसकी पूजा ये गोशाला के अंदर मवेशियों की रक्षा के लिए करते हैं। इस अवसर पर होम आदि करते हैं। इसी प्रकार ये गोवर्द्धन पूजा भी मवेशियों की वृद्धि के लिए करते हैं। इसके अलावा जानवरों में बाघ की पूजा बघउत मानकर करते हैं। वृक्षों में पीपल, नीम की पूजा विशेष रूप से औरतें चना चढ़ाकर करती हैं। व्रत-उपवास, तीर्थाटन, गंगा-स्नान आदि में ये विश्वास करते हैं।

कला-प्रेम

भुरतिया कलाकार वर्ग की जनजाति है जो कुर्री फर्दी, कलैया, कुश्ती, गदा मुगदल आदि की कला में दक्ष होती है। अमावस्या (दीपावली) के अवसर पर ये गाय-भैंसों की डार लगाते हैं। यानी बाघ की खाल में भूसा आदि भरकर ये उस दिन गायों को डराते हैं ताकि जंगल में बाघ आदि के आने पर वे अपनी रक्षा आप कर सकें। वे उन्हें नमक-खली खिलाते और सींग में तेल लगाकर गले में घण्टी या कौड़ी बाँधते हैं। यह एक प्रकार का उनका टोटका होता है। इसी दिन वे तंत्र-मंत्र भी जगाते हैं। स्त्रियां रात में विशेष पूजन का आयोजन करती हैं, टोना जगाती हैं।

इस जाति के लोग बिरहा, भजन कीर्तन भी गाते हैं। कभी-कभी डफला पर नाचते और गाते हैं। इनके गीत प्रायः वीर रस प्रधान होते हैं। यहां एक गीत की चार पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

पहिरि के कंगनवां सिर पर बांधि के कफनवां
जवन देसवा के सान रखले हो जवान
जवनइं कसमिरियां गांधी नेहरू के निसनवां
सत्य औ अहिंसा जेनकर सतवा हो महान।

इनके साहित्य और इनकी भाषा से लगता है कि अब ये अन्य जातियों में काफी घुलमिल गये हैं।

छठवां अध्याय

तराई क्षेत्र की प्रमुख जनजातियां : संक्षिप्त परिचय

आदिवासी अनेक जातियों, उपजातियों तथा वर्गों में विभक्त है, जिसे कहीं वनवासी, कहीं वन्यजाति, कहीं गिरिजन और कहीं आदिम जाति के नाम से पुकारा जाता है। अब इसके लिए 'जनजाति' शब्द अधिक प्रचलित हो गया है।

1971 की जनगणना के अनुसार आदिवासियों की आबादी लगभग 30 करोड़ 80 लाख, यानी भारत की पूरी आबादी का लगभग 7 प्रतिशत है। ये क्रमशः हिमालय की तराई, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, बिहार, महाराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में अधिक संख्या में बसे हुए हैं। उत्तर प्रदेश के उत्तर में भोटिया, बुक्सा, जौनसारी, राजी एवं थारू आदि जातियां निवास करती हैं तो दक्षिण में कोल एवं कोरवा। पूर्वी उत्तर प्रदेश की मुख्य जातियां हैं—खरवार, गोडं, धांगर, मुसहर, पनिका, बैगा, वैसवार, कोल, कोरवा, चेरो, अगरिया आदि। यहां हम इनका अध्ययन इनकी वंशपरंपराओं, इनके जीवन की विसंगतियों, मूल्यों, मान्यताओं, सांस्कृतिक-साहित्यिक गतिविधियों, सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों तथा आर्थिक उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में, आज के सन्दर्भ में करेंगे।

भोटिया

उत्तराखण्ड हिमालय की प्रमुख जनजाति भोटिया आज भी अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक मान्यताओं के लिए मशहूर है। यह एक यायावरी जीवन जीने वाली व्यापारी किस्म की जनजाति है। इसकी उत्पत्ति 'भोट' शब्द से बतायी जाती है। तिब्बत-नेपाल की सीमा पर एक विशेष अंचल को 'भोट प्रदेश' कहा जाता है, जिसमें न जाने कब से आदिम जातियां निवास करती आ रही हैं। भोटिया उत्तराखण्ड के उत्तरकाशी, चमोली, अल्मोड़ा तथा पिथौरागढ़ के जिलों में रहते हैं। पिथौरागढ़ में इन्हें शौक्य एवं जौहारी, चमोली में मारछा-तलछा, उत्तरकाशी में जाड़ भी कहा जाता है। ये अपने को राजपूत मानते हैं तथा कुछ विद्वान् इन्हें मंगोलीय प्रजाति के भी मानते हैं।

जीवन-शैली

भोटिया पहाड़ के ऊपर निवास करते हैं, जिसका अधिकांश भाग लगभग छः माह तक बर्फ से ढका रहता है। यही कारण है कि ये भयंकर शीत में स्थान छोड़ देते हैं और किसी न किसी व्यापार में लग जाते हैं। गर्मी के दिनों में ये कृषिकार्य भी करते

हैं। ये तिब्बत से नमक, सुहागा, सोना, जानवरों की खाल, खच्चर तथा भेंड़-बकरियां, ऊन, याक की पूंछ लाते और इसके बदले चावल, चीनी, गुड़, तम्बाकू, लोहा, बर्तन, सूती वस्त्र आदि वस्तुएं ले जाते थे। इस प्रकार दोनों ओर से व्यापार की सुविधा थी।

भोटिया व्यापारी के साथ-साथ परिश्रमी भी बहुत होते हैं। ये स्वभाव से सहनशील, चतुर, व्यापार कुशल, ईमानदार, कर्तव्यपरायण होते हैं। साहसी भी ये कम नहीं होते। पर्वतारोहण की इनकी अपनी हॉबी है।

1951 में जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया तो इनके व्यापार को भारी आघात पहुँचा। ये तितर-बितर हो गये। आर्थिक दृष्टि से काफी निर्बल हो गये। बाद में सरकार ने इन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करके पाठशालाएं, विकास की अनेक उपयोगी योजनाएँ, उद्योग-धन्धे आदि स्थापित करके विविध कामों में लगा दिया। ये नौकरियां करने लगे, व्यापार और ठेकेदारी आदि करने लगे। इन विकास योजनाओं से जहां एक ओर इनकी बिगड़ती आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ, वहीं इनकी सांस्कृतिक-सामाजिक परम्पराओं को बड़ा आघात पहुँचा। इनकी अपनी मस्ती समाप्त हो गयी। जीवन-शैली बदल गयी तथा इनके रीति-रिवाज भी बदल गये हैं।

धर्म और परम्पराएँ

भोटिया जनजाति के लोग मूलतः हिन्दू हैं। वे हिन्दुओं के देवी-देवतावों तथा पर्वों को मानते हैं। हिन्दू विधि से विवाह आदि भी करने लगे हैं इनका ब्राह्मणों द्वारा विवाह कराया जाता है। पहले ये 'रंगबंग' (युवागृह) में अपना भरपूर मनोरंजन करते थे, किन्तु अब यह परंपरा समाप्तप्राय है। पहले विवाह भी 'रंगबंग' में ही हो जाता था। हर युवक–युवती के लिए 'रंगबंग' में जाना अनिवार्य होता था, अब ऐसा नहीं है।

भोटिया महिलाएं शिल्प-कला में दक्ष होती थीं। वे कताई-बुनाई और ऊन की कलात्मक वस्तुएं बनाती थीं, अब धीरे-धीरे यह परंपरा भी समाप्त होती जा रही है। अब ये ऊन का व्यापार करते पूर्वांचल के अनेक भागों में देखे जाते हैं।

सांस्कृतिक परिवेश

भोटिया जनजाति की संस्कृति आदिम भारतीय संस्कृति है। ये लम्बा कोट, पाजामा, विशेष प्रकार की बनी पहाड़ी टोपी पहनते हैं। स्त्रियां ऊंची बांह वाला कोट पहनती हैं। कमर के नीचे कुर्ता पहनती हैं। मूंगे की माला भी खूब पहनती हैं।

नृत्य-संगीत की कला में भोटिया दक्ष होते हैं। विशाल पर्वतीय शिखर तथा घाटियां भोटियों के 'हुड़के' (एक प्रकार का वाद्य-यंत्र) से गूंज उठती हैं। ये झूमकर नाचते-गाते थे। रंगबंग में तो नृत्य-गीत का विशद आयोजन होता था। उनके गीतों में उनके जीवन के सजीव चित्र अंकित मिलते हैं।

भोटिया पहाड़ों पर झोपड़ियां बनाकर रहते थे या गुफाओं में । अब वे मकान बनाकर रहने लगे हैं। ये मांसाहारी होते हैं। इनका शरीर पुष्ट होता है। नृत्य-संगीत के समय ये विशेष प्रकार के वस्त्राभूषण पहनते हैं। स्त्रियां तरह-तरह की मालाएं पहनती हैं। हाथ में कंगन या माला पहनने की प्रथा इनमें प्रचलित है।

भोटियों का जीवन अब बिखर गया है। पहले ये कूप-मन्डूक बने रहते थे, किन्तु सीमित साधनों में मस्त रहते थे। अब शिक्षा के प्रचार-प्रसार, विकास की नई-नई योजनाओं से जुड़ जाने के कारण तितर-बितर होने के बाद भी आर्थिक दृष्टि से ये मजबूत हो रहे हैं और सामाजिक प्रतिष्ठा भी पा रहे हैं। इनके जीवन-स्तर में क्रमिक सुधार हो रहा है।

●

बुक्सा

थारू और बुक्सा लगभग एक ही तरह की पहाड़ी जन-जातियां हैं, जो तराई और भाबर के जिलों में पायी जाती हैं। बुक्सा पीलीभीत और देहरादून में भी पाये जाते हैं। ये तीन भागों में विभक्त हैं। पूर्वी रामगंगा के निकट, शारदा, रामगंगा और पतलीदून के निकट तथा पश्चिमी क्षेत्रों में ये निवास करते हैं।

बुक्सा लोगों का कद प्रायः छोटा होता है। चेहरा चौड़ा तथा नाक चपटी होती है। रंग प्रायः सांवला होता है। ये शरीर से स्वस्थ होते हैं। स्त्रियों की बनावट भी लगभग पुरुषों की ही तरह होती है। स्त्रियां हाथों में कड़ा, चूड़ी, पांवों में भी कड़ा, गले में गुरिया, माथे पर टीका, कानों में कर्णफूल पहनती हैं। ये स्वयं भी गुरिया या पत्थर तथा लकड़ी आदि के गहने बना लेते हैं। जंगल के आसपास एकान्त में रहना ये अधिक पसन्द करते हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार ये पवनार राजपूत वंशज हैं, तो कुछ के अनुसार ये मराठों द्वारा भगाये जाने पर देहरादून के आसपास आकर बस गये थे। बुक्साओं का कहना है कि वे टेहरी के राजा सुखदास द्वारा निमंत्रित होकर उन्हें शिकार खेलने का कौशल सिखाने के लिये यहां आये थे। ये अपने गोत्र में दो पीढ़ियों तक विवाह नहीं करते। जाति-पांति के भेदभाव में विश्वास करते हैं और प्रायः दो विवाह करते हैं। इनमें विधवा विवाह हो जाता है। इनमें घर-जमाई की प्रथा भी है, जिसमें पति अपने सास-ससुर के साथ रहता है। दहेज भी चलता है। विवाहोपरान्त गोत्र-परिवर्तन नहीं होता। संतानों का गोत्र पिता का ही होता है। इनमें पर्दा-प्रथा नहीं है।

धर्म तथा देवी-देवता

बुक्सा जनजातियों की धार्मिक परम्पराएं लगभग हिन्दुओं ही की तरह हैं। ये शिव, काली, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण की पूजा करते हैं। इनकी सबसे जागरूक देवी काशीपुर की चामुण्डा हैं। ये ग्राम देवता की पूजा भी करते थे। होली, दीवाली, दशहरा, जन्माष्टमी, नवरात्र, अनन्त चतुर्दशी के त्योहारों पर नृत्य-गान का सामूहिक आयोजन किया जाता है। इनके सभी संस्कार हिन्दुओं जैसे हैं।

भूत-प्रेत, टोना-टोटका, मंत्र-तंत्र में इनका विश्वास है। ये बलि चढ़ाते हैं। मांसाहारी हैं। धरती माता और सूर्य-चन्द्र की पूजा भी करते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों पर जाति-पांति की बैठक होती है। पंचायत-प्रथा द्वारा रगड़ों-झगड़ों का निपटारा हो जाता है। जाति धर्मच्युत होने पर अर्थदण्ड लगाया जाता है।

आर्थिक ढांचा

बुक्सा लोग खेती, उद्योग तथा शिल्प सम्बन्धी कार्य करते हैं। लकड़ी, लोहे का काम, मकान बनाने का काम, उपकरण, शस्त्रास्त्र, डलिया, मत्स्य-जाल, बर्तन आदि बनाने की कला में भी ये दक्ष होते हैं।

पहले इनका शिक्षा की ओर ध्यान कम था, किन्तु अब इनके लिये अनेक विद्यालय खोले गये हैं, जहां इन्हें निःशुल्क शिक्षा, आवास, भोजन, वस्त्र आदि सुविधायें प्रदान की जाती हैं। फलस्वरूप इनका जीवन-स्तर पहले की अपेक्षा ऊंचा हुआ है। इनके बात-व्यवहार, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन तथा पहनावे में भी काफी परिवर्तन हो रहा है। ये अब रूढ़िवादी भावनाओं से ऊपर उठ रहे हैं। अंध-विश्वास इनके बीच से समाप्त हो रहा है। साबुन, कंघी, रिबन, स्नो-पाउडर, लिपिस्टिक, नकली आभूषण, रेडियो, घड़ी, चश्मा का प्रयोग भी ये धड़ल्ले से करने लगे हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी आर्थिक स्थिति में भी तेजी से सुधार हो रहा है।

कला-प्रेम

बुक्सा कला-प्रेमी होते हैं। इनकी बस्ती उत्तर से दक्षिण की ओर एक कतार में बसी होती है। पूर्व की ओर पशु-बाड़ा, बीच में आंगन, दोपलिया छप्पर के मकान, ओसारी, ऊंची कोठी, मिट्टी या टट्टर की दीवारें बनाते हैं। स्त्रियां उन दीवारों पर चित्रांकन करती हैं। वे कला और संगीत से प्रेम करती हैं। वे घरों की दीवारों पर पैनल बनाती हैं जो लोक-जीवन से सम्बन्धित होते हैं। कुछ स्त्रियां मिट्टी की मोटी लेप लगाकर अंगुलियों से तरह-तरह की आकृतियां बनाती हैं, तो कुछ मिट्टी की बत्तियां बनाकर दीवारों पर आकृति-चित्रण करती हैं। पशु-पक्षी, मानवा कृतियां बनाती हैं। घरों में मिट्टी की कोठलियां बनाती हैं, जिनमें अनाज रखा जाता है। रथ की सवारी, शेर, चीता, बाघ, हाथी, घोड़ा, ऊंट, मोर, मुर्गा आदि भी बनाती हैं।

नृत्य-संगीत

बुक्सा नृत्य और संगीत की कला में दक्ष होते हैं। विभिन्न पर्वों उत्सवों तथा समारम्भों के अवसर पर स्त्री, पुरुष सभी सम्मिलित होकर नृत्य करते हैं। नृत्य के समय ये शृंगार करते हैं। इनमें आभूषण के प्रति विशेष आकर्षण देखा जाता है। इनके एक गीत की कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं। एक महिला अपने श्वसुर-गृह में रहते हुए देखिये कैसी साध रखती है:—

"बीरन होते हमको लेन आते,
कौन दिखावै मैया प्यारा देस,
देस देखन दूभर हो गई रे,
दावल होते हमको लेन आते,
कौन दिखावै मैया प्यारा देस।"

राजी

कुमाऊं, पिथौरागढ़ और हिमालय के आस-पास, वहाँ के घने जंगलों में रहने वाली राजी जनजाति को बनरौता या रावत के नाम से भी जाना जाता है। छोटे कद, चपटी नाक, मोटे भद्दे ओंठ, घुंघराले बाल, पीले पुष्ट शरीर वाले इस जनजाति के लोग कबीलाई जिन्दगी जीने के अभ्यस्त हैं। ये आज सभ्य कहे जाने वाले मनुष्यों के सामने जाने तक से कतराते हैं। पहले ये जंगल के राजा थे तथा मस्ती का जीवन जीते थे। जंगल की उपजी वस्तुएं तथा जानवरों के शिकार से अपनी जीविका चलाने में सुख का अनुभव करते थे। अब, जब इनके विकास की नयो-नयी योजनाएं बनायी जा रही हैं तो ये उनका सुख-भोग तो कर रहे हैं, किन्तु इनकी कबीलाई जिन्दगी इनसे छिनती जा रही है। अब ये रोजी-रोटी की तलाश में जंगल छोड़कर शहरों तथा बस्तियों में आकर मजदूरी के लिये भी बाध्य हो रहे हैं। इनके बारे में तो यहां तक कहा जाता है कि ये लोग अपने द्वारा निर्मित वस्तुओं को रात में गाँवों की सीमा के आस-पास रख आया करते थे। ग्रामीण लोग अपनी आवश्यकता की वस्तुएं लेकर बदले में अनाज उसी स्थान पर रख दिया करते थे, जिसे इस जनजाति के लोग पुनः रात में आकर ले जाया करते थे।

वंश-परंपराएँ

'वराह संहिता' में इस वंश के लोगों की भूमि अमरवन व चीड़-प्रान्तों के बीच बताई गई है जो इस समय जागीश्वर व तिब्बत के बीच का प्रान्त है। इसे 'किरात-मण्डल' भी कहा जाता है। जनजातीय लोक-कथाओं में इन्हें कुटपुरनील कपाल वंशी बताया गया है। इनमें से कुछ लोग अपने को अस्कोर के पाल-वंशीय राजा का बड़ा भाई बताते हैं, जिसे राम की भांति पिता ने वनवास या जंगल का राज्य दे दिया था।

इस क्षेत्र की बोलियों के विशेषज्ञ डॉ० शोभाराम शर्मा का विचार है कि इस क्षेत्र में तिब्बती-बर्मी उप परिवार का बोलियों का व्यवहार करने वाली जातियों और आर्य-मूलक भाषा-भाषियों से पहले मुण्डा भाषा-भाषी लोग निवास करते होंगे और उन्हीं के वंशज आज राजी नाम से एक अल्पसंख्यक जनजाति के रूप में विद्यमान हैं। अन्य लोगों का विचार है कि ये कोल वंश के ही हैं। कोल-किरात का जो वर्णन मिलता है, इनका रहन-सहन भी उसी से मिलता-जुलता है। ये आज भी अर्द्ध नंगे रहते हैं तथा गुफाओं और झोपड़ियों में निवास करते हैं। पत्थर या धातु के बने तेज औजारों से जंगली जानवरों का शिकार करते तथा आग में भूनकर खाते हैं। अब इनके विकास के लिये पाठशालाएं खोली जा रही हैं। आवास के लिए मकान तथा बसने के लिए जमीनें दी जा रही हैं। लघु उद्योगों में इन्हें लगाया जा रहा है।

देवी-देवता एव त्योहार

राजी जनजाति के प्रधान देवता बाघनाथ है। इनका विश्वास है कि देवी-देवता पहाड़ की चोटी, नदी, तालाब, कुएं में रहते हैं। जंगल से आने के बाद यदि कोई व्यक्ति बीमार पड़ जाता है तो ये जंगल के देवता की मनौती करते हैं। पशुओं की बलि चढ़ाते हैं। बलि के प्रसाद को चाव से खाते हैं।

कारक (कर्क) को संक्रान्ति तथा मकरा (मकर संक्रान्ति) इनके दो प्रमुख त्यौहार हैं। त्यौहार मनाने की इनकी एक परम्परा है। ये इन अवसरों पर तरह-तरह के भोजन बनाते-खाते तथा नृत्य-गान का आयोजन करके अपना भरपूर मनोरंजन भी करते हैं।

मनोरंजन के समय स्त्री-पुरुष दोनों अपना श्रृङ्गार करते हैं। युवतियां वस्त्राभूषणों तथा पुष्पादि से अपने शरीर को सजा देती हैं। स्त्री-पुरुष सभी मांस-मदिरा का सेवन करते हैं। मदिरा स्वयं भी बना लेते हैं। कभी-कभी इसी अवसर पर युवक-युवतियों का विवाह भी हो जाता है।

ये तीन पीढ़ी तक आपस में विवाह नहीं करते। विवाह-संस्कार के अपने परम्परागत रीति-रिवाज हैं। इनमें प्रेम-विवाह की प्रथा भी देखी जाती है। ये साधारण हिन्दुओं की तरह अपने गोत्र में विवाह नहीं करते हैं तथा एक पुरुष का दोनों बहनों से विवाह-सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं करते हैं। इनका समाज एक ही विवाह की मान्यता स्वीकार करता है। स्त्रियाँ अपना पुनर्विवाह कर लेती हैं। इनके समाज में दहेज की प्रथा आंशिक है। पुरुष का दूसरा विवाह समाजसम्मत न होने के कारण वेश्यागमन का प्रचलन यत्र-तंत्र देखा जाता है।

आजादी के पूर्व इनकी स्थिति बड़ी खराब थी। ये कूप-मण्डूक बने हुए थे और एकांतिक जीवन के अभ्यासी थे। अब क्रमशः इनकी आर्थिक स्थिति मे सुधार हो रहा है।

थारू

जानजातीय संस्कृति की दृष्टि से उत्तर प्रदेश भारत का सबसे महत्वपूर्ण प्रदेश है। मध्य प्रदेश, बिहार राजस्थान और फिर उधर नेपाल, कश्मीर के बीच अवस्थित होने के कारण आदिवासियों में उनकी अपनी संस्कृति का आदान-प्रदान तथा सम्मिश्रण और सामंजस्य भी होता रहता है। अतः जनजातियों के अध्ययन की दृष्टि से इस प्रदेश को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) पहाड़ी क्षेत्र—जिसमें कोल, कोरवा, अगरिया, घसिया चेरो, बैगा, गोंड, खरबार, पनिका, बैसवार, पठारी और परहिया आदि जनजातियां आती हैं।

(2) तराई क्षेत्र—जिनमें भोरिया, बुक्सा, जौनसारी, राजी तथा थारू आदि जनजातियां आती हैं।

थारू, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, थार के ही रहने वाले हैं। ये नैनीताल की किच्छा तहसील के गांवों में अधिक संख्या में तथा इसके अतिरिक्त क्रमशः खीरी, गोंडा, वहराइच, गोरखपुर, बस्ती, पीलीभीत जनपदों में भी बसे हुए हैं। ये मंगोल प्रजाति के हैं।

थारू भी पहले शिकारी जनजाति थी, किन्तु अब शिक्षा के प्रसार और समाज की प्रगति के कारण यह खेती और उद्योग-धन्धों से भी जुड़ती जा रही है। थारू जंगल या पहाड़ों के पास स्थान बना कर रहते तथा वहीं खेती-बाड़ी भी करते हैं। पहले ये पुरानी बिधि से ही खेती करते थे, किंतु अब वैज्ञानिक तौर-तरीकों से भी परिचित हो गये हैं। खेती से सम्बन्धित टोने-टोटके, जैसे घर के ऊपर बोई बिरवाई की रक्षा के लिए हण्डी या खपड़ी में चूना-कालिक के टीके लगाकर रखना, खेत में धोख लगाना, पैदा हुए अनाज को बैगा से पूजा कराये बगैर घर न लाना आदि टोटके तो प्रायः सभी आदिवासी और गैर आदिवासी जाति के लोग भी करते हैं। ये अपनी खेती स्वयं करते हैं। जंगल का कंद-मूल-फल, जड़ी-बूटियां भी एकत्र करते और उन्हें बाजार में वेचते हैं। ये महावत का काम भी करते हैं। इसमें ये दक्ष माने जाते हैं।

इनका पारिवारिक जीवन सुखी है। स्त्री-पुरुष सभी मिलकर रहते, एक दूसरे के सुख-दुख में सम्मिलित होते, कृषि-व्यवसाय में साथ-साथ कमाते और सहयोग की भावना से रहते हैं। ये आपसी झगड़ों विवादों का निपटारा भी स्वयं अथवा किसी को सरपंच या मुखिया मानकर कर-करा लेते हैं। स्त्री-पुरुष सभी सच्चे, ईमानदार, वचन के पक्के, मान-सम्मान के लिए मरने-मिटने वाले होते हैं।

थारू हिन्दुओं के त्योहार—होली, जिउंतिया, ललही छठ, अनन्त चतुर्दशी आदि अधिक उत्साह से मनाते हैं। होली पर तो दो-तीन दिन पहले ही से नाचना-गाना, लुकारी भाँजना, फाग गाना आरम्भ कर देते हैं। इस अवसर पर अश्लील गाने गाना औरअपनी भाभी-पत्नी आदि से रंग-अबीर खेलना, उनके साथ हंसी-ठिठोली करना

शुभ और अनिवार्य मानते हैं। उनका कहना है कि ऐसा न करने वाला पाप का भागी बनता है। इनके यहां घर-घर जाकर होली खेलने, एक जगह एकत्र होकर मदिरा पान करने की प्रथा बहुत पहले से चली आ रही है, जिसे आज के पढ़े-लिखे नवयुवक तोड़ रहे हैं। इसे बड़े-बूढ़े बुरा मानते हैं।

काली, भैरव, वीर, झाक, गरार, रतिनाथ, देवहार आदि की पूजा के अतिरिक्त वृक्षों में पीपल, नीम तथा पशुओं में बाघ, गाय, जीव-जन्तुओं में सर्प, बिच्छू की पूजा भी करते हैं। तीर्थ-व्रत में विश्वास रखते हैं। कथा-वार्ता प्रेम से सुनते हैं। शाम के समय या फुरसत में बड़े-बूढ़ों से कहानियां भी सुनते हैं. जिनमें से अधिकतर उनके जीवन तथा संस्कृति से सम्बन्धित होती हैं। ये कहानियां प्रायः शिक्षाप्रद तथा ज्ञानवर्द्धक होती हैं। ये अभिनय आदि भी करते हैं। स्त्रियां अंगिया, लहंगा, ओढ़नी पहनती हैं। अविवाहित लड़कियां ओढ़नी कंधे से ओढ़ती हैं, सिर से नहीं। अधिकतर स्त्रियां कड़ा, कंगन, हंसुली, पहुंची, बिजुली, सेहरा, झुमका आदि पहनती हैं। वे आभूषण-प्रिय होती हैं।

थारू दुर्गा या काली की बलि भी चढ़ते हैं। ये पत्थर की जगह बांस के खुत्थ का शिवलिंग बनाकर पूजते हैं। वंशवृद्धि के लिए भी बांस की पूजा—परंपरा इनमें प्रचलित है।

नैनीताल के आदिवासी तो अपनी पुरानी परंपराओं को पकड़े हुए हैं, किन्तु खीरी, गोंडा, बहराइच, गोरखपुर, वस्ती के आदिवासी, विशेष रूप से थारू काफी बदल गये हैं। उनमें से कई अच्छे पदों पर कार्यरत भी हैं। उनकी भाषा-बोली वहाँ के हिन्दुओं में मिल-जुल गयी है। उनके रूप-रंग में भी तेजी से परिवर्तन हो रहा है। अच्छे कपड़े, पैंट-कमीज भी ये पहनने लगे हैं। सिनेमा की संस्कृति उन्हें भी प्रभावित कर रही है। गोरखपुर के लालमनी अब शहर में आकर बस गये हैं। उनका एक लड़का नौकरी करता है एक फैक्ट्री में, पांच सौ से ऊपर कमा लेता है। दूसरा बेटा चाय की दुकान करता है। वे अपनी पत्नी सहित रहते हैं, सुखी हैं। उन्होंने बताया कि वे जब तक पराश्रित थे, यानी मजदूरी करते थे, तब तक दुखी थे, अब जबसे अपने पैरों पर खड़े हो गये हैं, दोनों जून भरपेट रोटी खाते हैं। तब कर्ज से दबे रहते थे, अब दो पैसा दूसरों को देने वाले हो गये हैं। अपनी गाढ़ी कमाई दारू आदि पीने में खर्च करना नहीं चाहते, न करते हैं। बच जाय तो चार पैसे बाल-बच्चों के लिए रख लेना चाहते हैं। उनका नाती हाई-स्कूल की परीक्षा देगा। पढ़ने में तेज है। यह पूछने पर कि आपने यह सब कैसे किया? उन्होंने विश्वास के साथ कहना आरंभ किया—"हम यह नहीं मानते कि हमें कोई उठाये तो उठें, हमें स्वयं उठना, आगे बढ़ना चाहिए। सरकार तो सुविधाएं ही न देगी, जब तक हम उन सुविधाओं का उपयोग करना नहीं जानेंगे, तब तक कुछ नहीं होगा। हमें सबसे पहले शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।"

थारुओं की भाषा-बोली और उनका साहित्य बड़ा धनी है। वे नृत्य और संगीत कला में प्रवीण होते हैं। आधुनिक समाज के साथ जुड़ने की प्रवृत्ति के कारण उनमें तेजी से परिवर्तन आ रहा है। अब ये कबीलाई और घुमन्तू जीवन से अलग हट कर, अन्ध विश्वासों का जामा फेंक कर देश, काल, परिस्थिति और समाज के बारे में भी सोचने लगे हैं, यह एक शुभ लक्षण है।

जौनसारी

जौनसारी, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जौनस शब्द से बना है जिसका अर्थ है जौनसार का निवासी उत्तर प्रदेश का गढ़वाल मण्डल पांच जनपदों में बंटा है— देहरादून, पौड़ी, टिहरी, उत्तरकाशी और चमोली। इन जिलों में जौनसारी जनजातियां न जाने कब से निवास करती आ रही हैं। ये अपनी संस्कृति, साहित्य, कला और सामाजिक मान्यताओं के कारण प्रसिद्ध हैं।

जौनसार सम्भवतः 'यवनसार' संस्कृत मूल से बना है। जौनसारी अपने को खशों के वंशज बताते हैं। ये पाण्डव वंशी भी कहे जाते हैं। खश और पाण्डव दोनों शिव पूजक थे। जौनसारियों के मुख्य त्यौहार बिस्सू पांचोई, जागरा हैं। इन त्योहारों पर वे नाचते हुए शिव की आराधना करते हैं।

जौनसारियों में बहुपति प्रथा प्रचलित है जिसका सम्बन्ध द्रौपदी और पाण्डों से माना जाता है। सच तो यह है कि कृषक और बनवासी होने के कारण जौरसारी स्त्रियां अपनी रक्षा के लिए अपने पति के अतिरिक्त अपने देवर को भी साथ रखती हैं। चूँकि इनमें पर्दा-प्रथा नहीं है, इसलिए ये मुक्त-यौन-सम्बन्ध को बुरा नहीं मानते। इनका पारिवारिक सम्बन्ध बड़ा अच्छा होता है। परिवार के सभी सदस्य मिलजुल कर रहते तथा काम में सहयोग करते हैं। गांव के मुखिया, मात्रिया और पण्डित को समान आदर देते हैं। हर गांव में एक सार्वजनिक स्थल या आंगन होता है जहाँ बिना किसी भेद-भाव के पूरे गांव के लोग एकत्र होते और मुक्त भाव से नृत्य गान करते हैं। ढोल बजाकर अपने देवता को जगाते और स्त्री-पुरुष सभी एक हो नाचने-गाने लगते हैं।

जौनसारियों में अनेक गीत—प्रकार प्रचलित हैं। उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार मांगड़, लिका, हईलार, हारुल, घोड़े भारत, शिलोग, केदार छाया, खोड़ी, भिरुड़ौगीत, झूरी, गोडावगा गीत, रैणारात गीत, गज्जू के घोड़े, बिरसू, जंगबाजू, तान्दा के गीत, आण्डे-काण्डे के गीत, पौड़ाईगीत, ढारना।

इन गीतों में उनके सरस जीवन, सांस्कृतिक परिवेश, सामाजिक रीति-रिवाज और साहित्य तथा कला के प्रति अनुराग की भावना का यथार्थ चित्र मिलता है। देखिये—

"ऊंचें बसे टिम्बल्या लागी नारायण रून्दों,

भुजो बिना जाम्बदो, सूची बिना जिय रा हन्दो ।"—अर्थात् जैसे भुना हुआ अन्न दुबारा उगा पाना संभव नहीं, ऊँचें टीले पर बैठा ईश्वर भी रोता है ।

जौनसारियों के प्रमुख नृत्य घूमसू, जंगवाजी झेंता, घोड़ों, घीई, घुण्डपा रासो, रासो हैं । नृत्य के साथ गीत का संयोग होता है । रस- परिवर्तन होता रहता है । विभिन्न अवसरों के लिए अलग-अलग नृत्य-प्रकार प्रचलित हैं । कई-कई समूहों में स्त्री-पुरुष मिलकर नृत्य करते हैं ।

इनका मुख्य त्यौहार माघ महीनें में होता है जब नवयुवक अपना अधिकतर समय प्रेम-क्रियाओं में लगाते हैं । ये इस अवसर पर पालित भेड़ों की बलि चढ़ाकर पूजा करते हैं । इस अवसर पर गलियां खून से सन जाती हैं ।

जौनसारी समाज अंध विश्वासों और रूढ़ियों से ग्रसित है । बहुपति या बहु पत्नी प्रथा, झाड़फूंक, जादू टोना, जंतर-मंतर और गंडे ताबीजों में इनकी आज भी आस्था है यही कारण है कि ये गंदे रहते हैं, बीमारियों के शिकार बने रहते हैं । आर्थिक दृष्टि से निर्बल हो जाते हैं । जहां शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ है, वहां वे रूढ़िवादी भावनाओं से ऊपर उठ रहे हैं । जड़ी-बूटियों की जगह दवाओं का प्रयोग करने लगे हैं । उनके रहन-सहन में आधुनिकता आने लगी है । परंपरागत वस्त्राभूषणों की अपेक्षा अब नवयुवक-युवतियां आधुनिक बस्त्राभूषणों का धड़ल्ले से प्रयोग करने लगे हैं ।

जौनसारी, कृषक, व्यापारी, शिल्पी और श्रमिक वर्गो में विभक्त हैं । कलाकार या शिल्पी वर्ग के लोग प्रायः गरीब होते हैं । वे पत्थर, स्लेट, लकड़ी के योग से मंदिर या मकान आदि स्वयं बना लेते हैं । ये अपने मकान देवदार बृक्ष के पटरे से छाते हैं । मंदिर के प्रवेश द्वार पर नपों का अलंकरण करना, लोक जीवन के चित्र अंकित करना, पशु-पक्षी, शिकार-दृश्य, घुड़ सवारी, यात्रा, गोचारण आदि के चित्र इनके बड़े आकर्षक होते हैं । लकड़ी के अलावा मिट्टी, और धातु के मॉडल भी ये बनाते हैं । इनका मंदिर एक प्रकार से लोक-कला का संग्रहालय होता है । शादी-ब्याह के अवसर पर भी ये अपने घरों को सजाते हैं । घोड़ा हाथी, सैनिक, कलश, घुड़सवार, आदि के चित्रों से सजे इनके पात्र बड़े आकर्षक हो जाते हैं ।

जौनसारी मदिरा पान करते हैं । मदिरा-पान पर ये अलंकरण करते हैं । अब पढ़े-लिखे लोग मदिरा-पान से विरत होते जा रहे हैं । इस तरह जौनसारी-जीवन में तेजी से परिवर्तन होने लगा है । इस परिवर्तन से जहां एक ओर इन्हें आधुनिक सुख-सुविधाएं प्राप्त हो रही हैं और वे आधुनिक समाज के साथ धुलने मिलने में आनन्द का अनुभव करने लगे हैं, वहीं चिन्ता की बात यह है कि उनकी मस्ती भी समाप्त होती जा रही है और उनकी मौलिक संस्कृति पर पर्दा पड़ता जा कहा है । काश ! उनकी मिटती हुई संस्कृति को बचा लिया जाता ।

आदिवासियों के लिए शिक्षा

आदिवासी-संस्कृति देश की प्राचीन संस्कृति है। अपने देश में आदिवासियों की संख्या पूरी जनसंख्या की लगभग ८ प्रतिशत तक पहुँच चुकी है। तब भी, इनकी आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय है। गरीबी और अशिक्षा इसके मूल कारण हैं।

पहले आदिवासियों में पढ़ने की प्रवृत्ति का अभाव था और वे शिक्षा के नाम पर दूर भागते थे, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से उनमें काफी सुधार लाया गया है। आदिवासी क्षेत्रों में आश्रम-पद्धति विद्यायय खोले गये हैं, जिनके माध्यम से आदिवासी बालकों को आवास, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा तथा पुस्तक-कापी आदि सभी प्रकार की सुविधायें प्राप्त हैं। इनसे काफी लाभ हुआ।

उत्तर प्रदेश में आश्रम-पद्धति विद्यालयों की संख्या 26 है। आदिवासी बालिकाओं के लिए दो विद्यालय लखनऊ तथा देहरादून में चल रहे हैं। यहाँ उच्च शिक्षा की व्यवस्था भी की गयी है। भोजन और नाश्ता पर प्रति छात्र की दर से 55.00 रु० प्रतिमाह खर्च किये जाते हैं। हर विद्यालय में औसतन 200 छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। हर छात्र को कोर्स की समस्त पुस्तकें तथा स्टेशनरी दी जाती है। इसके अतिरिक्त वस्त्र में 2 कमीज पूरी, 2 कमीज हाफ, 2 पैन्ट हाफ, 2 पाजामा, 2 नेकर, 2 बनियान, जूता तथा मोजा भी दिया जाता है। इस प्रकार हर छात्र-साफ-सुथरे कपड़े पहनता है।

आश्रम का जीवन बड़ा अच्छा है। उनका हर कार्य समय पर होता है। दुद्धी (मीरजापुर) के विद्यालय पर मुझे कुछ समय तक रहने तथा बच्चों के क्रिया-कलाप देखने का अवसर मिला। मुझे तो वह जीवन बहुत ही अच्छा लगा। जहां पहले इन बालकों की कोई जीवन-पद्धति ही नहीं थी। उनकी सारी आशाएं-आकांक्षाएं मर चुकी थीं, वहां अब वे पूर्ण नियमित तथा संतुलित जीवन जीने लगे हैं।

वे प्रातः 5 बजे विस्तर छोड़ देते हैं। सबसे पहले ईश वन्दना, "उठ जाग मुसाफिर भोर भया, अब रैन कहां जो सोवतु है" करते हैं। सम्मिलित स्वर में यह वंदना बहुत ही अच्छी लगती है। इसके बाद दैनिक क्रिया में लग जाते हैं। शौच, स्नान, पूजा-पाठ के उपरान्त हनुमान चालीसा, सुन्दरकांड का पाठ करते हैं। पुनः सामूहिक पी० टी० करायी जाती है। नास्ता में अंकुरित चना, भोजन में चावल, दाल, रोटी सब्जी, दूध, फल सभी यथावसर दिये जाते हैं। 10 से 4 तक पठन-पाठन, फिर व्यायाम, 4 बजे हलुआ-पराठा का नास्ता दिया जाता है। सायं की दैनिक क्रिया के उपरान्त, 6.15 बजे प्रार्थना, कीर्तन, भजन, सांस्कृतिक कार्यक्रम फिर 8,15 पर भोजन करके 10 बजे तक अध्ययन करते और उसके बाद सो जाते हैं। उनके लोकगीत तथा लोकनृत्य आदि भी कराये जाते हैं। उनकी सोते समय की प्रार्थना है:—

जीवन का मैंने सौंप दिया, सब भार तुम्हारे हाथों में।
उद्धार-पतन सब मेरा है, सरकार तुम्हारे हाथों में ॥

सचमुच ! आदिवासी कितना समर्पित होता है, दूसरों के लिए। उसका अपना क्या है। वह तो प्रातः जंगल में चला जाता है और रात गये रैन-बसेरा के लिए लौटता है। आखेट उसका जीवन है। सारी प्रगति उसके लिए बेमानी है। वह किसी से कुछ छीनना नहीं चाहता, अपितु स्वतन्त्र जीवन-यापन करना चाहता है। दुद्धी के एक आदिवासी बालक से जब मैंने पूछा, "बताओ राजेन्द्र ! तुम्हारा मन यहाँ लगता है कि नहीं ?" तो उसने कहा,–"श्रीमान् जी मेरा खूब मन लगता है। गांव के और लड़के जो नहीं पढ़ते, जंगल में शिकार खोजते हैं, अब ललचाये हैं।" "तो वे यहां नाम क्यों नहीं लिखाते ?" मैंने दूसरा प्रश्न किया तो सामने बैठे अधीक्षक श्री हीरामणि तिवारी ने बच्चे की बात छोड़ते हुए कहा–"सभी लड़कों का नाम लिखा जाना संभव नहीं है। हमारे यहां कुल 175 सीटें हैं। इससे अधिक लड़कों का नाम मैं लिख ही नहीं सकता।" पूछतांछ के बाद ज्ञात हुआ कि प्राइमरी कक्षाओं में 20 और जूनियर कक्षाओ में 25 छात्र की दर से प्रवेश होता है। हर वर्ष ही बहुत से विद्यार्थी वापस चले जाते हैं।

विद्यार्थी पढ़ना चाहते हैं, अभिभावक पढ़ाना चाहते हैं, किन्तु जब वे प्रवेश नहीं पाते तो निराश होकर वापस चले जाते हैं। चूंकि वे बहुत गरीब हैं, इसलिए चाहते हुए भी पढ़ या पढ़ा नहीं पाते। सरकार को चाहिए कि ऐसे विद्यालयों की क्षमता बढ़ाये और ऐसी व्यवस्था करे कि किसी भी छात्र-अभिभावक को निराश लौटना न पड़े।

इन विद्यालयों का स्तर सामान्य हैं। स्तर ऊंचा न होने के दो कारण हैं। पहला यह कि आदिवासियों में कोई पढ़ा-लिखा नहीं है। उनका वातावरण भी शैक्षिक नहीं है। यही कारण है कि यहाँ कुछ ऐसे बालक भी आते हैं जिनका उद्देश्य पढ़ना नहीं, पेट पालना है। अभिभावक भी यह सोचकर भेजते हैं कि चलो वहाँ पेट भर भोजक तो पायेगा, पढ़े या न पढ़े। रामलगन नामक एक अभिभावक से जब मैंने पूछा कि आप लड़के को स्कूल क्यों नहीं भेजते हो ?' तो उसने कहा–'पढ़ी तो नाकरी पायी, न पढ़ी तो पेट भर खाई तो।'

गांधी जी की बुनियादी शिक्षा आदिवासियों के लिए सबसे अधिक कारगर सिद्ध हो सकती हैं वशर्ते उसको सही ढंग से लागू किया जाय। हर आदिवासी सूत कातने लगे तो उसकी वस्त्र की समस्या हल हो सकती है। इसी प्रकार टाट-पट्टी बुनवा कर उसकी आर्थिक दशा में सुधार लाया जा सकता है किन्तु अभी तक इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था इन आश्रम–पद्धति विद्यालयों में भी नहीं की गयी ? सरकार को इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। आदिवासी बालिकाओं को सिलाई-कढ़ाई की शिक्षा दी

जानी चाहिए, और आदिवासी बालक को कृषि, चर्मकला, काष्ठकला, लौह कला, मुर्गी अथवा सुअर पालन, दरी-गलीचा बनाने की कला आदि की। तात्पर्य यह कि इनके लिए व्यावहारिक अर्थकरी शिक्षा ही अधिक कारगर सिद्ध होगी जो इन्हें रोटी दे सके, वर्ना यहां कहने के लिए डिग्री कालेज इन्हीं के लिए खोला गया है, लेकिन उसमें बहुत कम अदिवासी बालक शिक्षा पा रहे हैं। आदिवासी तो ऐसी शिक्षा चाहता है जो उसके हाथ को काम दे। इसीलिए वह नौकरी के लिए भी बहुत इच्छुक नहीं रहता, अपितु मज दूरी कर लेता है अथवा कन्दमूल पर जीवित रह लेता है। सारांश यह कि आदिवासियों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे आत्मनिर्भर हो सकें। आदिवासियों की प्रौढ़शिक्षा की व्यवस्था भी इसी ढर्रे की की जानी चाहिए। अधिक से अधिक आश्रमपद्धति विद्यालय खोले जाने चाहिए।

आश्रम-पद्धति बिद्यालय भी दो प्रकार के हैं। एक वे जिनमें सभी आदिवासी पढ़ते हैं, दूसरे वे जिनमें अनुसूचित, विमुक्त जाति के विद्यार्थी पढ़ते हैं। ऐसा एक विद्यालय सारनाथ में खोला गया है। इन विद्यालयों में उन जातियों के लड़के पढ़ते हैं, जो अपराधवृत्ति के हैं। मिरजापुर में जो विद्यालय चल रहे हैं वे आदिवासियों के लिए ही हैं। घोरावल में केवल कोलजाति के लड़के पढ़ते हैं और दुद्धी में गोंड, चेरो, पनिका, भुइयां, खरवार बैंगा, धांगर आदि सभी जातियों के। जौनपुर, गाजीपुर, इटावा में ऐसे विद्यालयों में, हरिजन-छात्र भी पढ़ते हैं। इन सभी विद्योलयों में स्थान, छात्रावास आदि की कमी हैं। घोरावल विद्यालय किराये के सकान में चल रहा है। जिसमें हवा, प्रकाश, छात्रावास आदि की समुचित व्यवस्था नहीं है।

आदिवासीं क्षेत्रों में सर्वेन्ट आफ इंडिया सोसायटी के विद्यालय भी चल रहे हैं। इनमें भी आवास, भोजन तथा वस्त्र की कुछ सुविधाएं प्रदान की गयी हैं किन्तु वे नहीं हैं। सलखन के प्रधानाचार्य श्री राजदेव शुक्ल ने एक भेंटवार्ता में बताया कि आदिवासी बच्चों में पढ़ने की रुचि का अभाव है। इसका प्रमुख कारण भविष्य के प्रति अनिश्चय का होना है। आदिवासी बालक अन्य बालकों से स्तर में होड़ ले नहीं पाता। अतः अच्छी श्रेणी में परीक्षा भी उत्तीर्ण नहीं कर पाता। परिणाम वह होता है कि वह अनुभव करने लगता है कि पढ़ने के बाद भी उसे नौकरी नहीं मिलेगी। फिर जब हल ही जोतना और चरवाही करना है तो आरंभ ही से क्यों न करें।